पदार्थोंमें विपरीतता—कारण-विपर्यास, भेद-विपर्यास और लक्षण विपर्याससे होती है। पदार्थोंमें जो विपरीतता दीख रही है या भिन्न भिन्न मत मतांतरोंकी कल्पना हो रही है उसका मूल-कारण यह है कि पदार्थोंमें कारण-विपर्यास समझ रक्खा है। भेद-विपर्यास और लक्षण (स्वरूप) विपर्यास इन विपरीत स्वरूपोंका यथार्थ ज्ञान एकमात्र सर्वज्ञ को ही होता है। सर्वज्ञ प्रभुका ज्ञान सर्वव्यापी है और सर्व कालवर्ती अमुर्त पदार्थोंको भी प्रत्यक्ष करने वाला है। छद्मस्थ जीवोंका ज्ञान अपरिपूर्ण ज्ञान है वह भी इन्द्रिय और मनके द्वारा होनेसे अमूर्तीक पदार्थोंका ज्ञान नहीं करा सक्ता? एवं सर्वकाल और सर्वक्षेत्रवर्ती पदार्थोंको ज्ञान नहीं करा सका इसलिये इन्द्रिय-जनित ज्ञानमें कारण-विपर्यासनादि विपर्यासता अवश्य ही होती है। इसीलिये छद्मस्थ जीवोंको जितना परिज्ञान होता है वे उस ज्ञानसे पदार्थके सत्य स्वरूपको प्रकट नहीं कर सक्ते हैं। द्रव्य मिथ्यात्वकी उत्पत्ति इसी कारणसे होती हैं।

द्रव्य-मिथ्यात्वके नोकर्म यहा हुंडावसर्पिणी कालमें बढ़ते रहते हैं इसीसे इससमय द्रव्य-मिथ्यात्वकी वृद्धि शीघ्र-शीघ्र हो रही है, यह सब हुंडावसर्पिणी काल काही दुर्निवार प्रभाव है। हुंडावसर्पिणी कालके सिवाय अन्य कालमें प्राय: एक जैनधर्मही रहता है द्रव्य-मिथ्यात्वका बाह्यस्वरूप सर्वथा प्रकट नहीं होता है इसीलिये जैनधर्मको शाश्वत-धर्म, सनातन-धर्म, अनादिनिधन धर्म, माना है। जैनधर्मकी आदि नहीं है। जैनधर्म का अंत नहीं है।

विदेहादि क्षेत्रोंमें एक मात्र जैनधर्म ही अनादिकालसे अविच्छिन्न रूपसे चला आरहा है और अनंतकाल पर्यंत इसी प्रकार चला जायगा। विदेहक्षेत्रमें जैनधर्मके आयतन अनादिकालसे हैं और अनतकाल पर्यंत रहेगें, किसी कालमें इनका अभाव नहीं होगा। जैन-गुरु, जैन-धर्म, जैन-चैत्यालय, जैन-चैत्य और जैनागमका प्रभाव सर्वकालमें वहापर प्रकाशमान वना रहता है। वांकी प्रजा सर्वकाल मे एकमात्र जैनधर्मका ही सेवन करती है अन्य धर्मका स्वरूप वहापर सर्वथा प्रकट नहीं होता है।

विदेहक्षेत्र में ब्रह्मा, विष्णु, शंकर, देवी-देवताओंके आयतन व इनके उपासक सर्वथा उत्पन्न नहीं होते हैं। कुशासनोंका आगम व उनके गुरु नहीं होते हैं।

वस्तु की परिस्थितिका विचार करनेसे यह सबको सहजमें विदित होगा कि-संसारका मूल कारण एक मिथ्यात्व है और मोक्षका मूलकारण एक सम्यक्त्व है।

सम्यक्त्व वस्तुके सत्य स्वरूपका प्रकाश करता है और मिथ्यात्व वस्तुके असत्य स्वरूपका प्रकाश करता है। सत्य स्वरूपकी प्राप्ति होनेसे जीवोंको हेयोपादेयका सत्य सत्य परिज्ञान होता है। पर-वस्तुमें उदासीनता प्रकट होती है और आत्मवस्तुकी चाहना होती है। इस प्रकारके परिज्ञानसे सम्यग्दृष्टी जीव अपने वर्तमान स्वरूप को विचारता है और आत्माके वास्तविक स्वरूप को भी विचारता है।

शुद्ध आत्मा और अशुद्ध आत्मा इस प्रकार आत्मा के दो भेद

हैं। संसारी जीवोंकी अशुद्ध आत्मा होती है और मोक्षके जीवोंकी शुद्ध आत्मा होती है।

शुद्ध आत्मा समस्त कर्मोंसे रहित होती है इसलिये वह अमूर्तीक, शुद्ध ज्ञान, शुद्ध-दर्शनमय, टंकोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभाव वाली है। अनंत सुख-संपन्न होती है, निर्द्वन्द्व होती है, जन्म मरण शोक भय चिंता क्लेश आदि उपद्रवोंसे रहित होती है, क्रोध-मान-माया लोभ, काम-विकार और सब प्रकार की इच्छाओंसे रहित परम-शांत, परम निर्भय, परम निराकुल, होती है। शुद्ध आत्माके इन्द्रिय और मन नहीं है। इसलिये शब्द, स्पर्श, रस, गंध आदि इन्द्रियोंके विषयोंकी कामनासे रहित आत्मीक सुखमें मग्न होती है।

संसारी आत्मा अशुद्ध आत्मा है, संसारी आत्माओंमें अशुद्धता कर्मोंसे प्राप्त हुई है। कर्म अनादि हैं। आत्मा भी अनादि है। कर्मोंका संबंध संसारी अशुद्ध आत्माके साथ अनादिकालसे है।

असलमें संसारी अशुद्ध आत्मा स्वभावसे ही अशुद्ध है ऐसा नहीं है कि आत्मा प्रथम् शुद्ध था फिर कर्मोंपाधिसे अशुद्ध हो गया हो और न ऐसा भी है कि शुद्ध अवस्थामें रहता हुआ आत्मा कर्मोपाधिसे अनेक प्रकार अशुद्ध दीखता हो। जिस प्रकार स्फटिक मणिके पीछे जैसे रंगका डाक (परदा) लगा दिया जाय तो स्फटिक वैसा ही दीखने लगता है। स्फटिकमें अशुद्धता नहीं है संयोग से अशुद्धता प्रतीत होती है, ऐसेही जीवमें अशुद्धता नहीं है कर्मोपाधिके संयोगसे अशुद्धता प्रतीत हो रही है।

ऐसा भी नहीं समझना चाहिये कि आत्मा अनादिकालसे

अमूर्तीक है। परंतु उस अमूर्तीक रूपमें ही कर्मकी छाया आत्मापर पड़ रही है। जिस प्रकार अमूर्तीक आकाश पर अभ्रकी छाया पड़ती है।

ऐसा भी नहीं समझना चाहिये कि आत्मा प्रथम बद्ध नहीं थी कर्मोंके संयोगसे पुनः बंधरूप हो गई। ऐसा भी नहीं मानना चाहिये कि आत्मा प्रथम गुण रहित था पीछेसे कर्मोंके संयोगसे सगुण बन गया है।

आत्मा अनादि कालसे ही अशुद्ध है। अशुद्धताका कारण आत्माकी वैभाविक शक्ति है। समस्त द्रव्योंमें परिणमन होता है। परंतु अशुद्ध पुद्गल और अशुद्ध जीवोंका विभाव परिणमन होता है। बाकी द्रव्योंमें स्वभाव-परिणमन ही होता है शुद्ध जीवमें भी स्वभाव परिणमन होता है। जीवमें विभाव-परिणमन अनादिकालसे है इस विभाव परिणमनसे ही चौरासी लाख जातियोंमें जन्मता और मरता है।

संसारी आत्माका स्वरूप और कर्म संबंध।

आत्मा अनादिकालसे ही अशुद्ध है। जिस प्रकार सुवर्णकी मिट्टीमें सुवर्ण अनादिकालसे ही अशुद्ध अवस्था में है। ऐसा नहीं है कि सुवर्ण किसीने मिट्टीमें मिला दिया हो। या प्रथम शुद्ध हो, मिट्टीमें मिलनेके बाद अशुद्ध होगया हो। परतु स्वभावरूपसे ही मिट्टीमें सुवर्ण अपनी अशुद्ध अवस्थामें है। ठीक इसी प्रकार आत्मा अनादि कालसे स्वयमेव स्वभावरूपसे अशुद्ध है। वह अशुद्धता आत्मामें वैभाविक शक्तिके कारणसे कर्मसंयोग रूप हो रही है। वैभाविक-शक्तिके द्वारा आत्माका परिणमन विभावरूप

हो रहा है। उसके द्वारा यह आत्मा नवीन नवीन कर्म-वर्गणाओंको ग्रहण करता है।

यद्यपि सूक्ष्मरूपसे विचार किया जाय तो बंध अनादि और सादिके भेदसे दो प्रकार है। मेरु पर्वत आदि पदार्थोंमें अनादि बंध और सादि दोनों प्रकारका बंध है। मेरुका आकार और उसका बंध अनादि हैं। इसलिये मेरु नित्य है। परंतु समय समय पर बहुत से पुद्गल स्कन्ध उस मेरुमें सबंद्धित होते हैं और निर्जरित भी होते हैं इसलिये उसमें (मेरुमें) कथंचित् सादि बंध भी है। परंतु मेरुमें अनादि बंधकी ही मुख्यता है। इसीप्रकार संसारी जीवमें भी एक अनादि बंध मुख्य माना है।

जिस प्रकार बीज और वृक्ष परंपरा कारणसे अनादि हैं। वृक्षसे बीज और बीजसे वृक्ष जिस प्रकार अनादि संतति रूप होने से आदि रहित-अनादि हैं। ऐसा नहीं है कि बीज प्रथम स्वयं सिद्ध हो और किसी एक खास व्यक्तिने उस बीजसे वृक्ष बनाया हो। ऐसा भी नहीं है कि वृक्ष प्रथम था उसके बाद उस वृक्षमें बीज लगे। इस प्रकार दोनोंमेंसे एकको प्रथम मान लिया जाय तो वस्तु की नियामकता किसी प्रकार बन नहीं सक्ती है। इसलिये युक्ति और बुद्धि विचारसे वस्तुका स्वरूप बीज वृक्ष दोनोंको संतति रूप अनादि ही मानना पडेगा और है भी ऐसा ही। इसी प्रकार जीव पदार्थमें अनादि बंध कर्म-संततिरूप है।

वैभाविक शक्तिके द्वारा आत्मा राग-द्वेषरूप अपने भावोंसे परिणमन करता है। रागद्वेषसे आत्माके परिणामोंमें कषायोंका

उद्वेग सुदृढ रूपसे जागृत होता है, कषायोंसे परिणामोंमें सातिशय सचिक्कणता प्राप्त होती है और संततता होती है। गर्म लोहा गर्म करनेपर पानीको सर्वतोभावसे आकर्षण करता है उसी प्रकार आत्मा भी रागद्वेषसे कषाय रूप होता है और कषायोंसे नवीन नवीन कर्म-वर्गणाओंको ग्रहण करता है।

पर पदार्थोंके निमित्तसे आत्मामें रागद्वेष जागृत होते हैं और उसका द्वार (दरवाजा) मन-वचन-काय हैं, मन-वचन-कायके द्वारा आत्माके प्रदेशोंमें परिस्पंदता होती है, क्रिया होती है। उसमें भी मुख्य कारण वही आत्माके रागद्वेष भाव हैं उन भावोंमें कषायोंकी तीव्र मंद आदि विशेष शक्तिसे तीव्र मंद कर्म-वर्गणाओंमें रस—स्थिति रूप बंध होता है।

यद्यपि मन-वचन-कायके द्वारा ही नवीन कर्म-वर्गणाएँ आत्माके साथ संबंधित होती हैं और उसमें रस और स्थितिका संबंध कषायोंके द्वारा होता है।

मन-वचन-कायकी प्राप्ति पूर्व कर्मोंके द्वारा होती है। भावार्थ—मन-वचन-काय यह पूर्व संबंधित कर्मोंका फल है। उन मन-वचन-कायके द्वारा कर्मबंध होता है।

रागद्वेषसे कर्मबंध। कर्मबंधसे मन-वचन-काय। मन-वचन-कायसे रागद्वेष और रागद्वेषसे पुनः कर्मबंध। इस प्रकार कर्म संतति अनादिकालसे जीवकी हो रही है। इस संततिसे कर्म और आत्माका संबंध अनादि माना जाता है।

प्रथम ऐसा कोई भी समय नहीं था कि जिस समय आत्मा

कर्मबंधन रहित बना रहा हो। या रागद्वेष रूप न रहा हो। अनादि कालसे ही आत्मामें रागद्वेष कर्मके संबंधसे हैं और उन रागद्वेषसे कर्मोंका संबंध भी अनादि रूप है ही।

यद्यपि प्रति समय आयु-कर्मको छोड़कर अन्य सात कर्मोंका बंध और निर्जरा होती ही रहती हैं। नवीन कर्मोंका बंध सतत होता ही है और पूर्वबद्ध कर्मोंकी निर्जरा भी सतत् होती रहती ही है। इस प्रकार आत्मा अनादिकालसे सतत् प्रवाह रूप कर्मबद्ध अवस्थामे अशुद्ध रूप ही है।

समस्त कर्मोंमेंसे एक मोहनीय कर्म ऐसा है जिसके द्वारा आत्माकी परिणति किसी अवस्थामें हो ही नहीं सक्ती, अन्य ज्ञानावरण आदि कर्मोंका फल (क्षमोपशम) अपने अपने अनुरूप होता है। परंतु एक मोहनीय कर्मका फल उन समस्त कर्म फलोंमें विपरीतता ला देता है। जिससे आत्माका ज्ञान विपरीत होता है, दर्शन विपरीत होता है। अघातिया कर्ममे मोहनीय कर्म विशेष कार्य नहीं करता है क्योंकि अघातिया कर्मोंसे आत्माके गुणोंका विशेष घात नहीं होता है। इसलिये उस पर विचार भी नहीं किया है।

मोहनीय कर्मके उदयसे जीवोंमें रागद्वेषकी जागृति विशेष रूपसे बनी रहती है। जिससे पर-पदार्थमें अभिरुचि, विपरीत श्रद्धान, आत्मश्रद्धानका अभाव, असत्य पदार्थोंमें प्रमाणता और सत्य पदार्थमें अप्रामाणिकता होती है

इन्द्रिय जनित ज्ञानमें विपरीतता भी मोहनीय कर्मके उदयसे

होती है इसलिये मोहनीय कर्मके उदयसे जीवका परिज्ञान भी विपरीत—अज्ञानरूप या संशयरूप बना रहता है।

ज्ञान और बुद्धिकी विपरीतता अथवा (अज्ञान जो मोहनीय कर्म के उदयसे हुआ है) भावोंसे आत्माके परिणामोंमें विशेषतर तीव्रतम् कषायोंका रस निरंतर भरा रहता है। जिससे आत्मा रागद्वेष के इष्टानिष्ट विषयोंमें आत्म और अनात्म भावना कर अपने मन वचन-कायसे हिंसादि क्रूर भयंकर कार्य करता है जिससे वह असंख्य पुद्गल वर्गणाओंको बद्ध कर लेता है। अथवा अपने ज्ञान दर्शन गुणोंको घातकर अज्ञान भावसे असंख्य कार्माणवर्गणाओंको संबद्ध कर लेता है।

मोहनीय कर्म जीवके साथ अनादिकालसे संबंधित हो रहा है संसारी जीवोंकी अशुद्धताका मूलकारण एक मोहनीय कर्म है। मोहनीय कर्मसे जीव रागद्वेषरूप होता है। रागद्वेषसे आत्मीय गुणोंका घात करता है, आत्मगुणोंका घात होनेसे कर्मबंधरूप होता है अथवा अशुद्धरूप होता है।

अशुद्ध अवस्थामें जीवका स्वरूप शुद्ध स्वरूपसे बिलकुल विपरीत होता है। शुद्ध अवस्थामें जीवका स्वरूप अमूर्तीक है। अशुद्ध अवस्थामें जीवका स्वरूप मूर्तीक है (रूप, रस, गंध, स्पर्श सहित होता है) शुद्ध अवस्थामें जीवका स्वरूप केवलज्ञान सहित त्रिलोकका ज्ञाता और दृष्टा है। परंतु अशुद्ध अवस्थामें जीवका ज्ञान अत्यंत स्वल्प और विपरीत हो जाता है वनस्पति काय, पृथ्वी काय, अप काय, तेज काय और वायु-कायके जीवोंका ज्ञान बिलकुल नहीं सा है।

निगोदिया जीवोंमें अक्षरके अनतवें भाग प्रमाण ही ज्ञान रह जाता है। यद्यपि ज्ञानका आभाव सर्वथा नहीं है तोभी अक्षरके अनंतवें भाग प्रमाण ज्ञानकी प्रतीति सर्व-साधारण, विचार-शील मनुष्योंको नहीं होती है दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय,चार इन्द्रिय जीवोंमें ज्ञानकी इतनी मदता है कि जो न-कुछ के बराबर है। पंचेन्द्रिय जीवोंमें ज्ञानका प्रकर्ष अधिक है।

ससारी जीवोंका परिज्ञान इन्द्रिय और मनके आधीन है इस-लिये वह ज्ञान पराश्रित होनेसे अपरिपूर्ण है, अनंत पदार्थोंको एक साथ परिज्ञान नहीं करा सका है। इसलिये अशुद्ध संसारी जीवोंकी आत्मा कथंचित् अमूर्तीक पदार्थोंके ज्ञान-रहित मूर्तीक ज्ञान-सहित है।

शुद्ध जीव कर्त्ता नहीं है न कर्मफलका भोका ही है। परंतु अशुद्ध जीव कर्मोंका कर्ता है और उसके फलका भोक्ता भी है। अशुद्ध जीव कर्मोंको नवीन रूपमे ग्रहण करता है और उसका फल इन्द्रिय, शरीर, आयु और श्वासोश्वास रूप प्राणोंको धारण करता है, जन्म-मरणको प्राप्त होता है। सुख-दुख रूप अवस्थाको प्राप्त होता है। नर-नारकादि पर्यायोंको धारण करता है। बाह्यमें धन धान्यादि रूप कुटंब परिवार आदि फलको प्राप्त होता है भोगने वाला होता है।

संसारमें जितनी वस्तुऐं प्रत्यक्ष दीख रही हैं उन सबका भोक्ता यह जीव है और इस जीवने ही अपने कर्मोंके फलसे उन वस्तुओंको प्राप्त किया है। जीवोंनि जैसा पाप या पुण्य

का कार्य (आचरण) अपने मन-वचन-कायके द्वारा संपादन किया है, अपने मन-वचन-कायके कर्तव्य द्वारा जो कर्म आत्माके साथ बांध लिये हैं उनका फल वह अवश्य भोगता है।

शुद्ध जीव अप्रतिरुद्ध है। परंतु संसारी जीवका स्वरूप प्रतिरुद्ध है, प्रतिरुद्धता गतियोंके भेदसे भिन्न २ रूप है। हाथीके शरीरमें वही जीव है। वह वहासे निकल कर सहसा भाग क्यों नहीं जाता ? नरक पर्यायमें घोर दु:खोंको सहन करता है परंतु वहांसे उसका छुटकारा आयुके पूर्ण किये विना नहीं होता है। यह प्रतिरुद्धता संसारी अशुद्धजीवोंमें सतत वनी रहती हैं जब तक कर्मोंकी सत्ता आत्मामें है।

चाहे हाथीके शरीरको धारण करने वाला जीव हो अथवा चींटीकी पर्यायको धारण करनेवाला जीव हो। परंतु जीव छोटा बड़ा नहीं है। जितने शुद्ध जीवके प्रदेश हैं, उतने ही प्रदेश अशुद्ध संसारी जीव के है। तो भी अशुद्ध ससारी जीव कर्मके प्रभावसे अपने समस्त असंख्यात प्रदेशोंको चींटी या हाथीके शरीर प्रमाण संकोच विस्तार रूप बना लेता है। परंतु शुद्ध जीवके आत्मप्रदेशोंमें संकोच विस्तार नहीं है, अशुद्ध जीव अपने असंख्यात आत्मप्रदेशोंको इतना गहरा संकोच करता है कि एक निगोत शरीरमें सिद्धराशिके अनंत गुणे जीवोंका शरीर (जीवसहित शरीर) रह जाता है।

इसी प्रकार अपने प्रदेशोंको लोकाकाश पर्यंत विस्तार लेता है। जब तक शरीरका संबंध आत्मासे है तब तक जी

ऐसा सकोच विस्तार करना ही पड़ता है परन्तु शुद्ध जीवोंमें ऐसा संकोच विस्तार नहीं है।

शुद्ध जीवके प्रदेशोंमें ऐसी विलक्षण शक्ति है कि एक शुद्धजीव की आकृतिमें अनंत-जीव अव्यावाध रूपमे रह सक्ते है ऐसा अवगाहन और अव्याबाधित गुण शुद्ध जीवमें है। परंतु शरीरी जीवोंके शरीरकी रुकावट होती हैं मनुष्यके शरीरको पर्वत, भित्ति आदि रोक सक्ते हैं। परंतु शुद्ध जीवमें ऐसी बात नहीं है।

शुद्ध जीव अपनी पर्यायसे नित्य, है कल्पातकाल व्यतीत होने पर शुद्ध जीवकी पर्यायमें विकृति नहीं होती है। चाहे त्रिलोकमें उथल-पथल हो जाय। चाहे समस्त संसार (लोक) का परिवर्तन हो जाय। चाहे समस्त संसार प्रलयको दुर्धर्ष अग्निसे भस्मीभूत हो जाय। चाहे संसारको उडा लेने वाला प्रलयकालका झंझावात समस्त संसारको उडा देवे। परन्तु शुद्ध जीवमे किसी प्रकार भी विकार नहीं होगा। जो पर्याय प्राप्त की है वह उसी प्रकार वैसी ही शाश्वत रूपमें अविनश्वर (नित्य) बनी रहेगी। परंतु अशुद्ध जीव अपने कामोंकी पराधीनतासे निरतर अगणित पर्यायोंको धारण करता है। कभी मृग होता है, कभी गदहा होता है, कभी मार्जार होता है, कभी वृक्ष होता है, कभी ऊंट होता है, कभी स्त्री होता है कभी पुरुष होता है, कभी नपुंसक होता है, कभी पुत्र होता है, कभी पिता होता है, कभी देव होता हैं, कभी शूकर होता है, कभी काना होता है, कभी एक टागका होता है, कभी तीन टागका होता है, इस प्रकार अगणित रूप अशुद्ध जीवके हो रहे हैं। इन

रूपांको धारण करते करते अनंतकाल हो गया। परन्तु कर्मोंकी सत्ता जीवके साथ होनेसे विभिन्न प्रकारकी रूप धारणकी अवस्था नहीं मिटती है। एक जीवके आसूओंको एकत्रित किया जाय तो कितने ही समुद्र भर सकते हैं इसलिये आप अब अनुमान कीजिये कि एक जीवने कितने रूप धारण किये यह सब फल कर्मोंका ही है।

शुद्ध जीवका स्वभाव भ्रमण करनेसे रहित है। परंतु अशुद्ध जीवका स्वभाव भ्रमण करनेका है शुद्ध जीव ऊर्ध्वगतिसे जिस लोकके अंतभागमें विराजे हैं वे वैसेही सदैवके लिये स्थित रहेंगे परंतु अशुद्ध जीव विविध प्रकारके आहार-भय-मैथुन और परिग्रहके योगसे सर्वत्र भ्रमण करता है। निरन्तर भ्रमण करता है। इस लोकमें भ्रमण करता है और परलोकमें भी भ्रमण करता है। घूमना घूमना-घूमना ही स्वभाव हो रहा है। अधागमन करता है। संक्रमण करता है। एक शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरकी प्राप्तिके लिये त्रिलोकमें सर्वत्र भ्रमण करता है। कर्मोंकी पराधीनतासे जीवका भ्रमण करनेका स्वभाव हो गया है।

इसी प्रकार अशुद्ध जीव आहार-भय मैथुन और परिग्रह संज्ञाओंसे सदैव आकुलित-दुःखी संत्रस्त और पीडित हो रहा है। एक क्षण मात्र भी शांत नहीं है। एक क्षणभर भी निराकुल नहीं है। एक क्षण मात्र अपने स्वरूपमें स्थित होकर परमानंदमें निमग्न नहीं है, सतत ही संक्लेशित है, सतत पीड़ित है, सततही दुखी है, सतत चिन्तातुर है, सतत भयभीत है सात प्रकारके भयोंसे क्लेशित है।

सतत पर-पदार्थोंकी चाहना इच्छा और आशामें उद्भ्रमित है। परंतु शुद्ध जीव सदैव शांत, परम आनंदमें निमग्न, परम संतोषसे परिपूर्ण, पराधीनतासे रहित स्वतंत्र है। अशुद्ध जीवको परिग्रह तृष्णासे बात बातमें पराधीनता है। कर्मोंकी प्रबल सत्तासे पराधीनताका फंद इतना सुदृढ रूपसे लगा है कि एक क्षणमात्र भी अशुद्ध जीवोंको स्वाधीनता प्राप्त नहीं होती है।

यद्यपि शुद्ध जीवके इन्द्रिय और मनका सर्वथा अभाव है तथापि शुद्ध जीव स्वाधीन पूर्णरूपसे स्वतंत्र होनेसे अपने अनंत आनंदमें निमग्न है, समस्त क्लेशोंसे सर्वथा रहित है। समस्त भयोंसे रहित हैं। समस्त प्रकारकी चिंतासे रहित है। समस्त प्रकारकी इच्छाओंसे रहित है। समस्त प्रकारके कृत्योंसे रहित कृतकृत्य है। परंतु अशुद्ध जीवकी अवस्था ठीक इससे विपरीत है। शोक, भय, चिंता, क्लेश, सता रहा है।

अशुद्ध जीव बालक-वृद्ध-होता है, क्षुधातुर होता है, पिपासातुर होता है, रोगी होता है परंतु ये सब बातें शुद्धजीवमें सर्वथा नहीं होती हैं।

शुद्ध जीव और अशुद्ध जीवका भेद संक्षेपसे ऊपर दिग्दर्शन कराया है। यद्यपि द्रव्यकी अपेक्षा विचार किया जाय तो जो शक्ति शुद्ध जीवमें है, वही शक्ति अशुद्ध जीवमें है। शुद्ध-जीव और अशुद्ध जीवमें किंचित्मात्र भी भेद नहीं है। अशुद्ध ही शुद्ध होता है। परन्तु फिर भी जो जो अवस्था भेद है वह सब कर्मोंके संयोगसे है। जीवमें द्रव्यकी अपेक्षा भेद नहीं है।

कर्मोपाधि दूर होने पर अशुद्ध जीवही शुद्ध होकर पूर्ण ज्ञानी निराकुल-परमशान्त-परमआनंद मय और पूर्ण स्वतन्त्र-कृतकृत्य हो जाते हैं।

कर्मोपाधिसे नवीन नवीन कर्मबंधका अंकुर उत्पन्न होता ही रहता है। कर्मोपाधि दूर होजाने पर नवीन कर्मोके अंकुरकी उत्पत्ति नष्ट हो जाती है। जिस प्रकार चावलके धान्य परसे कर्मोपाधि रूप छिलका दूर कर देने पर चावलमें अंकुरोत्पत्ति नष्ट हो जाती है। छिलका सहित धान्य निरन्तर अंकुरित होताही है।

शरीरके छूट जानेसे कर्मोपाधि नहीं छूटती है, यह स्थूल शरीर अनन्तबार छोडा। परन्तु कर्मोको सत्ता आत्मा पर पूर्ण होनेसे संसारके जन्म-मरणका अंत नहीं होता है। कर्मोकी प्रबलतासे एक शरीर छूटने पर दूसरा शरीर धारण करना पडता है। दूसरा छूटने पर तीसरा, तीसरा छूटने पर चौथा शरीर धारण करना पडता है, इस प्रकार जबतक कर्मोका आत्माके साथ संबंध है तबतक निरंतर एक शरीरको छोडना और दूसरे नवीन शरीरको धारण करना यह व्यापार अशुद्ध जीवके साथ निरंतर लगा ही है। इसीको संतति कहते हैं, जन्म मरणका चक्र कहते हैं, संसार कहते हैं।

शुद्धजीवमें कर्मोका संबंध सर्वथा नष्ट हो गया है इसलिये जन्म मरणका चक्र सर्वथा नष्ट हो गया है। शुद्ध जीव जन्म-मरण की उपाधिसे सर्वथा रहित हैं।

एक शरीर छूटने पर दूसरे शरीरको धारण करनेके लिये

कार्मण शरीर (कर्मपिंड जो सूक्ष्मरूपसे आत्माके साथ संबंधित है) आत्माको जबरन खींचकर ले जाता है। जिस प्रकार वेतार का तार आकर्षण किये हुए पुद्गल शब्द-वर्गणाओंको यथेष्ट स्थान पर पहुंचा देता है, ठीक इसी प्रकार जीवको कार्मण शरीर दूसरे नवीन शरीरमें धर देता है।

एक शरीर छूटने पर (मरने पर) जीव कर्मरहित नहीं होता है। किंतु जीवने अपने कर्तव्योंके द्वारा जो पुण्य-पाप किया है तदनुसार असंख्य कर्मोंको (जो अत्यन्त सूक्ष्म हैं) धारण किये रहता है। वह असंख्य कर्मोंका पिंड ही जीवोंको नवीन शरीर धारण करनेका कारण होता है।

संसारी जीव अपने मन वचन काय द्वारा जो शुभाशुभ कर्म करते हैं। पुण्य और पापके आचरण करते हैं वे कर्म अपना फल प्रदान करनेके लिये जीवको भले-बुरे शरीरमें ले जाकर पटक देते हैं। यदि जीव अपने मन-वचन-काय द्वारा पाप, हिंसा, चोरी अन्याय, परधन-हरण, परस्त्री हरण आदि मलिनाचरण करता है तो जीवको विवश होकर उन कर्मोंका फल भोगनेके लिये नरकादि दुर्गतिमें जाना पडता है। यदि जीवने अपने मन-वचन-काय द्वारा दान, पूजा, संयम, तप, भक्ति, दया आदि उत्तम कार्य किये हैं तो उसका फल भोगनेके लिये देवगति आदि उत्तम गतिमें जाना पडता है। परंतु जिस समय जीव ध्यान और उग्र तीव्र तपके द्वारा समस्त शुभाशुभ कार्मोंको भस्मीभूत कर देता है। मन-वचन-कायके समस्त व्यापारोंको रोक कर नवीन कर्म-बंधन

नहीं करता है और पूर्व संचित कर्मोंको तप द्वारा जला देता है उस समय जन्म-मरणके अंकुर रहित शुद्धजीव हो जाता है।

यद्यपि जीव-द्रव्य इन्द्रियगोचर नहीं है। तो भी कर्म सहित होनेसे शरीराकृतिमें दृष्टि-गोचर होता है और स्वानुभव में प्रत्यक्ष है।

यद्यपि जीव-द्रव्य अजर अमर-अक्षय और अविनाशीक है, सदा अखंड है, अभिन्न है, अछिन्न है, शाश्वत है, नित्य है। अग्नि इस जीवद्रव्यको भस्म नहीं कर सकी है। शस्त्र छेदन नहीं कर सके है, उल्कापात इसको पीडित नहीं कर सका है। वायु इसको उडा नहीं सकी है, जल-प्रवाह इसको प्रवाहित नहीं कर सका है, पृथ्वी अपने पेटमें धर नहीं सकी है, भूमंडल की ऐसी कोई जबर्दस्त शक्ति नहीं है जो इस आत्मा पर अपना अधिकार जमा सके। आत्माकी शक्ति सर्वोपरि है, आत्माका प्रभाव सर्वो-त्कृष्ट और सर्वोच्च है। आत्माका बल अपूर्व और त्रिलोकको क्षोभ करने वाला है। आत्माका वीर्य तीन लोक और तीन काल के समस्त पदार्थों पर प्रभुत्व रखने वाला है। आत्माका साहस अदम्य है। आत्माका धैर्य अतुल्य है। आत्माकी गति अवर्णनीय है। एक समयमें चौदह राजू प्रयंत गमन हो सका है। आत्माका पराक्रम अनंत है; वज्र आदिको भी भेदन कर अपना कार्य करता है। आत्माका तेज अपरंपार है; कोटि सूर्य भी ऐसा तेज प्रकट नहीं कर सके हैं। वह भी अक्षय और अनंत है। आत्माकी शांति अपूर्व है ऐसी शांति अन्य पदार्थमें सर्वथा नहीं है। आत्माका

साम्यभाव लोकोत्तर है। तीन जगतके जीवोंको अभयदान एक समय मात्रमें यह आत्मा प्रदान कर सक्ता है। जगतके समस्त जीवोंको शांति और परम-हर्षके साथ परमानंद स्वरूप बना सक्ता है। आत्मामें दानशक्ति अद्वितीय है। त्रिलोक का साम्राज्य प्रदान यह आत्मा अन्य आत्माको करा सक्ता है। आत्माका ज्ञान सर्वगत है। आत्माका दर्शन सर्वव्याप्त है। आत्माका सुख सर्वश्रेष्ठ और सर्वोत्कृष्ट अक्षय अनंत है। आत्माको कोई भी स्पर्श नहीं कर सक्ता? आत्माको कोई पकड़ नहीं सका। आत्माको कोई नष्ट नहीं कर सका! आत्माको कोई दबा नहीं सका। आत्मा अजेय है आत्मा अबद्ध है। आत्मा अखंड है। आत्मामें परम पुरुषार्थ है। आत्मामें स्वतंत्रता है। आत्मामें सर्व मान्यता है। आत्मामें त्रिजगत पूज्यता है। आत्मामें अनंत और अक्षय ऐश्वर्य है। वह अपने रूपमे स्थित होने पर प्राप्त होता है। आत्मामें परम विभूति है। आत्मा निर्भय है। आत्मा ही ग्राह्य है। आत्मा ही सेवन करने योग्य है। आत्माही आदरणीय है। आत्माही भजनीय है। आत्मा ही उपादेय है। सर्व तत्त्वोंमें निर्विकार आत्मा है, सर्वतत्त्वोंमें परमपुनीत आत्मा है, सर्वतत्त्वोंमें आत्मा ही श्रेष्ट है। सर्व तत्त्वोंमें उत्कृष्टता आत्माकी है। सर्व-तत्त्वोंमे सुख नहीं है; सुखमात्र एक आत्मामें ही है। ज्ञान आत्मामें है। बल वीर्य आत्मामें है। जो जो उत्तमता और ग्राह्यता संसारके समस्त पदार्थोंमें है उससे भी उत्तरोत्तर उत्तमता और ग्राह्यता आत्मामें है परंतु आत्माकी यह सर्व संपत्ति कर्मकी पराधीनतासे

विच्छिन्न होरही है। यदि स्वरूप विचार किया जाय तो जो आनंद आत्माके विचार करने में है वह आनंद और सुख संसारकी चक्रवर्ती विभूति प्राप्त करने पर या इन्द्रकी संपत्ति प्राप्त करने पर भी नहीं प्राप्त होती है।

आत्माके ध्यान करनेमें जो सुख प्राप्त होता है वैसा सुख त्रिलोकमें अन्यत्र नहीं है। आत्माकी दया, आत्माकी क्षमा, आत्मा का सत्य धर्म, आत्माका निरभिमान, आत्माकी निस्पृहता, आत्मा की निरभिकांक्षा, आत्माकी उदारता, आत्माका परोपकार, आत्मा-का संयम, आत्माकी सरलता, आत्माका त्याग इत्यादि आत्माके किसी कार्यका विचार किया जाय ? तो जो आनन्द आत्माके इन गुणोंके विचार करनेमें प्राप्त होता है वह तीन लोकके राज्य भोगनेमें नहीं है। साधारण लोग सहज दान करनेमें आनन्द मानते हैं, जरासे भोगोंकी प्राप्तिमें हर्षित होते हैं, परंतु जिन जीवों ने आत्माके त्याग-धर्मका विचार किया है वे आत्माके त्यागधर्म में संसारके समस्त जीवोंको बंधु समझते हैं।

इसी प्रकार आत्माका ब्रह्मचर्य धर्म और आत्माके आकिंचन धर्मका विचार किया जाय तो इन दोनों धर्मके स्वरूप विचारमें जो अनुपम आनंद है वह आनंद अन्यत्र नहीं है। संसारकी समस्त वस्तुओंसे निर्मोह होकर स्वात्माके अतीन्द्रिय परमसुखमें जो सुख है वह सुख अन्यत्र नहीं है।

इस प्रकार आत्माके विचारमें आत्माके गुणोंके स्मरण, चिंतन, मनन और ध्यानमें जो सुख है वह अवर्णनीय है।

परंतु आत्माके समस्त गुण प्रायः कर्मोंसे आच्छादित हो रहे हैं, विपरीत परिणमन हो रहे हैं। विभावरूप हो रहे हैं। अपने स्वभावसे विपरीत हो रहे हैं। अप्रत्यक्ष और अचिंतनीय हो रहे हैं। इसलिये अज्ञानी जीव अपने स्वरूपको भूल रहा है।

अज्ञानी जीवों में आत्मस्वरूप की अनभिज्ञता।

शुद्ध जीव और अशुद्ध जीवका स्वरूप जब तक पृथक् पृथक् सम्यक् प्रकारसे न जान लिया जाय तब तक यह जीव अज्ञानी बना रहता है। न तो पुण्य-पापको ही मानता है और न परलोकको मानता है। न सदाचार और सच्चरित्रको श्रेष्ठ समझता है। इसीलिये अज्ञानी जीव शुद्ध-स्वरूपकी प्राप्तिमें अप्रयत्नशील रहता है, वस्तुज्ञानसे रहित होता है या भ्रमात्मक होता है या विपरीत भावोंको धारण करता है। इसलिये ही कर्म और कर्मफलका ज्ञान लेना परमावश्यक है। कर्म और कर्मफल इन दोनोंका स्वरूप जाने बिना किसी प्रकार आत्माका जानना नहीं हो सक्ता। जिसने कर्म और कर्मफलको नहीं जाना है उसने आत्माको भी सर्वथा नहीं जाना है।

असलमें कर्म और कर्मफल जाने बिना कोई भी तत्त्व किसी प्रकार भी कैसे भी ज्ञात नहीं हो सक्ता ? जीव-द्रव्यका स्वरूप तो खासकर कर्म और कर्मफल जाने बिना सर्वथा ही जाना जा नहीं सक्ता ?

जिन, जिन जीवोंने आत्माको जाना है। उनने सबसे प्रथम कर्म और कर्मफलको प्रथम जान लिया है। वही विद्वान् है जिसने कर्म और कर्मफलको जान लिया है। वही सम्यग्दृष्टी है, वही भेद-विज्ञानी है, वही आत्मवित् है, वही तत्त्वज्ञ है, वही पंडित है, वही परमात्मा है, वही ज्ञाता है और वही विवेकी है।

जिसने कर्म और कर्मफलको जान लिया उसने सर्व जान लिया और जिसने कर्म और कर्मफल नहीं जाना उसने कुछ भी नहीं जाना है।

जिसने कर्म और कर्मफलको देखा है उसने सब कुछ देख लिया, जिसने कर्म और कर्मफलका अनुभव किया है उसने समस्त जगतका अनुभव किया है। जिसने कर्म और कर्मफल पर विश्वास कर आत्मस्वरूपका अवलोकन किया है उसने जगतका अवलोकन कर लिया है। जिसने कर्म और कर्मफलके स्वरूपको समझ लिया है उसने जगतके समस्त पदार्थोंको समझ लिया है। जिसने कर्म और कर्मफल मान लिया है उसने परमात्माको मान लिया है।

जिसने कर्म और कर्मफलकी तरफ दृष्टिपात और विचार किया है उसने पंच-परावर्तन स्वरूपका यथार्थ विचार कर लिया है। जिसने कर्म और कर्मफलकी प्रमाणताको प्रगट कर दिया है उसने संसारके समस्ततत्त्वोंकी प्रमाणता प्रगट कर दी है।

शुद्ध और अशुद्धजीवका यथार्थ बोध कर्म और कर्मफल जानने में है। मोक्षमार्गका प्रकाश कर्म और कर्मफलके परिज्ञानमें

है। वैराग्य भावना उसको ही प्राप्त होती है जो कर्म और कर्म-फलको जानता है। संसारके स्वरूपको यथार्थमें वही समझा हुआ है कि जिसने कर्म और कर्मफलके स्वरूपको समझ लिया है। वही मुनिपदका अधिकारी है। वही श्रावक-धर्मका पालन करनेमें यथार्थ अधिकारी है जिसने कर्म और कर्मफलके स्वरूपको पहिचान लिया है। वह शीघ्रही बंधन मुक्त होने वाला है जिसने कर्म और कर्मफलको अपने स्वरूपसे भिन्न समझकर कर्मोंको नाश करनेका प्रयत्न किया है।

मोक्षकी प्राप्ति उन जीवोंको ही होती है। जिनने कर्म और कर्मफलसे अपनेको पृथक कर लिया है। कर्मोंकी सत्ता जब तक आत्मा पर है तब तक संसार ही है। कर्मोंके सर्वथा नाश होने पर जीवको मोक्ष होती है।

कर्म और कर्मफलसे सर्वथा रहित आत्मा ही परमात्मा होती है। जो कर्म और कर्मफल सहित है वह संसारी आत्मा है। अशुद्ध आत्मा है, जन्म-मरणके चक्रमें प्लावित आत्मा है।

जिस प्रकार सुवर्णमें जबतक मल मिट्टी और कीटका संबंध है तब तक वह शुद्ध सुवर्ण नहीं कहा जाता है। उसको सुवर्णका पाषाण कहते हैं। जो सुवर्णकी कीमत है वह सुवर्ण पाषाणकी नहीं है। जो रूप रंग और कोमलता, मनोहरता, स्निग्धता आदि सुवर्णमें गुण हैं वह सुवर्ण पाषाणमें प्रत्यक्ष रूपसे व्यक्त नहीं है। परंतु जब वह मल मिट्टी सुवर्ण पाषाणसे दूर हो जाती है तब ही सुवर्ण अपने स्वरूपमें प्रकट होता है। फिर उस सुवर्णमें

कालिमा-कीट-मल-मिट्टी किसी प्रकार भी संवद्धित नहीं होती है।

सुवर्णके समान जीवसे कर्ममल ध्यानरूपी अग्निके द्वारा भस्मीभूत हो जाय तो फिर उस जीवात्मा पर किसी प्रकार भी कर्ममल प्राप्त नहीं हो सक्ता है।

इसलिये कर्म—कर्मफल और कर्मोंके मोचनका परिज्ञान प्र-प्रत्येक जीवोंको अवश्य ही होना चाहिये।

कर्म—कर्मफलका स्वरूप यथार्थ जाने विना ही अनंत मत म-तांतरोंकी उत्पत्ति हुई हैं। जीवके स्वरूपमें ही समस्त मत-मतां-तरोंका वाद विवाद है और जिसको अनभिज्ञता या अज्ञान कहते हैं वह केवल जीवके स्वरूप नहीं जानने में ही है।

कर्मका स्वरूप अत्यंत सूक्ष्म है, कर्मका रूप अत्यंत परोक्ष है, अतीन्द्रिय है। इसलिये उसका पूर्ण प्रत्यक्ष एक सर्वज्ञ भगवानको ही होता है। अन्य छद्मस्थ जीवोंको कर्मके स्वरूपका प्रत्यक्ष परि-ज्ञान होना दुर्लभ है। कर्म आत्माके साथ संबंद्धित है। इसलिये स्थूल कर्मोंका फलरूप जो कर्म औदारिकादि शरीर कथंचित् ज्ञात होता है। परंतु कार्मण पिंड अत्यंत सूक्ष्म होनेसे दृष्टिगोचर नहीं है। इसलिये संसारी व्यामोही छद्मस्थ जीवोंको न तो आ-त्माका यथार्थ परिज्ञान है और न कर्मके स्वरूपका ही परिज्ञान है। इसीलिये—जीवके स्वरूप माननेमें अनेक प्रकारकी विभिन्नता प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो रही है।

जीवके स्वरूप माननेमें कोई तो कारण-विपर्यासको धारण कर रहा है, कोई भेदाभेद-विपर्यासको धारण कर रहा है और कोई स्वरूपमें ही विपर्यासताको धारण कर रहा है।

कितने विचारशील जीव-पदार्थको ही नहीं मानते हैं। क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण जीवकी सत्ताको सिद्ध करनेमें असमर्थ हैं। जो जीवकी सत्ता प्रत्यक्ष सिद्ध होती तो सबको जीव-पदार्थ दृष्टि-गोचर होता। परन्तु आज तक किसीने जीवको प्रत्यक्ष देखा नहीं है? अनुमान प्रमाणसे भी जीव-पदार्थकी सिद्धि वे नहीं मानते हैं। अनुमान प्रमाणकी सत्यता (प्रमाणता) का विश्वासही क्या है ये लोग यह भी कहते हैं कि जब प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणसे जीव नहीं है तब आगमसे मानना केवल बालकोंका खेल है। अथवा भोले लोगोंको समझाना है।

जो यह मनुष्य पशु-पक्षी आदि प्राणियोंमें हलन-चलन, गमनागमन, खान-पान, भाषण आदि क्रिया हो रही है उससे शरीरमें जीवकी कल्पना कर ली जाय सो भी ठीक नही है क्योंकि एक तो कल्पना करना ही मिथ्या है। दूसरे इस प्रकारकी क्रियायें पंचभूत में होती हैं। परंतु पंचभूतको जीव नहीं माना जाता है। पंचभूत (मेटिरियल) अपनी उन्नति करते करते गमना गमन, हलन चलन संभाषण आदि क्रियायें करने लग गये। इसलिये जीव-पदार्थकी कल्पना करना यह सब प्रकारसे अज्ञान मालुम होता है।

जब जीव पदार्थ ही अपनी सत्तासे सिद्ध नहीं है। तब कर्म और कर्मफलको सिद्ध करनेकी क्या आवश्यकता है? जब जीव पदार्थ ही नहीं है तब स्वर्ग-नरक मोक्ष जन्म—मरण आदिकी कल्पना करना मूलके विना शाखा फल-पुष्पकी कल्पना करना है। परंतु यह न्याय सप्रमाण सिद्ध है कि "मूलं नास्ति कुतो शाखा"।

यहां पर यही विचार करना है कि जीव है या नहीं? यद्यपि जीवोंको घट-पट-मठके समान जीव प्रत्यक्ष (इन्द्रिय-प्रत्यक्ष) नहीं है। क्योंकि संसारी जीव कर्मसहित होने पर भी इन्द्रिय-गोचर नहीं होता है और शुद्ध-जीव तो अमूर्तिक होनेसे सर्वथा ही इन्द्रिय-गोचर हो नहीं सक्ता? परंतु स्वसंवेदन ज्ञानके द्वारा सबको प्रत्यक्ष होता है। शरीरसे भिन्न "मैं हूं" इस प्रकार की प्रतीति सबको प्रत्यक्ष होती है। "मैं सुखी हूं, मैं दुखी हूं, मैं भूखा हूं, मैं पियासा हूं, मुझे पीडा है, मैं जानता हूं" इत्यादि अनेकप्रकार आत्माका स्वसंवेदन करने वाला ज्ञान सबको प्रत्यक्ष होता है। जो शरीरसे भिन्न अन्य जीव-पदार्थ नहीं होता तो उसका स्वसवेदन करानेवाला ज्ञान क्यों होता? और स्वसवेदन ज्ञान सब को होता है। इस प्रकार स्वसंवेदन ज्ञान द्वारा जीवकी सत्ता अनिवार्य सिद्ध होती है।

मैं सुखी हूं, मैं जानता हूं मैं देखता हूं, इस प्रकार सुख ज्ञान और दर्शन गुणोंकी प्रतीति जड़पदार्थमें होती नहीं है। जानने रूप क्रिया या देखने रूप क्रिया यह आत्माका ही धर्म है। जड पदार्थोंमें (पंचभूतोंमें) निमित्त संयोगसे गमना-गमन, हलन-चलन और संभाषण आदि क्रियायें हो सक्ती हैं क्योंकि पुद्गल द्रव्य-की ये समस्त पर्याय हैं। अजीव पदार्थमें भी ऐसी शक्ति है जो एक समयमें चौदह राजू प्रमाण क्षेत्रमें गमन कर सक्ता है। तार या बे-तारके तार द्वारा जो गमन-क्रिया जडपदार्थकी हो रही है, वह न कुछके बराबर है। परंतु इससे भी अनंतगुणी वेगवती

क्रिया अजीव पदार्थमें है। तो भी अजीव पदार्थमे जाननेरूप क्रिया, देखनेरूप क्रिया, सुखके अनुभवन रूप क्रिया, संतोपरूप क्रिया, हर्परूप क्रिया, उद्वेगरूप क्रिया इत्यादि प्रकारकी क्रियायें जीवमें ही होती हैं। इस प्रकारकी चैतन्य-क्रियाओंका स्वामी जीवनामा पदार्थ है। जीव सिवाय जड़ (अजीव) पदार्थमे इस प्रकारकी क्रियाओंका होना असंभव है।

चैतन्यशक्ति जीव पदार्थमें ही है। जीवका चैतन्य लक्षण है। ज्ञान-दर्शनरूप क्रियाको चैतन्य कहते हैं। ज्ञान दर्शन ये दोनों पर्यायें चैतन्यस्वरूप जीवद्रव्यमें ही होती हैं। अजीव द्रव्यमें नहीं होती हैं।

यदि अजीव द्रव्यमें संयोगसे चैतन्य-शक्ति मान ली जाय तो अजीव-द्रव्य (पंचभूत, पृथ्वी, जल, वायु, तेज, और आकाश) के मूलरूप परमाणुमें वह शक्ति माननी पड़ेगी। पंचभूतके परमाणुओं (जिनके मिलने पर स्कंध महास्कन्ध और समस्त जगतकी रचना होती है) में चैतन्यशक्ति माननी पड़ेगी। क्योंकि परमाणुओंमें जब तक चैतन्य-शक्ति (ज्ञान दर्शन) की सत्ता सिद्ध न हो जाय तब तक परमाणुओंसे होनेवाले स्कंध शरीर और महा स्कंधोमें चैतन्यशक्ति कहासे आ सकी है?

जैसा बीज होगा वैसा ही वृक्ष होगा। मूल पदार्थमें जो गुण है वे गुण ही तो उसके कार्यमें प्रकट होंगे। ऐसा नहीं होता है कि मूलपदार्थमें गुण नहीं हों और उस मूलसे उत्पन्न होने वाले पदार्थमें वे गुण आ जायं? जो ऐसा होता हो तो अमूर्तीक से मूर्तीक उत्पन्न होने लगेगा, तो समस्त पदार्थोंकी

जायगी, जो प्रत्यक्ष प्रमाणसे बाधित हैं। प्रत्यक्ष प्रमाणसे एक शरीरमें एक ही जीवद्रव्य प्रतीति होती है और एक शरीरका स्वामी एक जीव है।

कदाचित् अनंत चैतन्य (जीव) का एकरूप समन्वय करके, मानें तो भी एक शरीरमें अनंत-चैतन्यकी सत्ता किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता है और न अनंत चैतन्य मिलकर समस्त पदार्थोंका अनुभव एक साथ प्रकट कर सके हैं।

जब परमाणुमें चैतन्य है तो मरण किसीका नहीं होना चाहिये क्योंकि परमाणुमेंसे चैतन्यशक्तिका अभाव हो नहीं सका? शरीरको छिन्न-भिन्न करने पर, शरीरको जलाने पर भी चैतन्य-शक्तिका नाश नहीं हो सका। क्योंकि परमाणुमें चैतन्य स्वभाव रूपसे माननी पड़ेगी। नित्यरूप और अभिन्नरूप माननी पड़ेगी।

कदाचित् परमाणुमें चैतन्य कभी रहती है और कभी नहीं रहती है। कभी चैतन्यशक्ति परमाणुसे भिन्न रहती है और कभी अभिन्न रहती है? ऐसा कहना भी बन नहीं सक्ता है? क्योंकि परमाणुमें (जो मूल कारण पदार्थोंकी उत्पत्तिका है) नित्य और अनित्य, भिन्न अभिन्नकी कल्पना करने पर परमाणुमें चैतन्यशक्ति ही नहीं ठहर सक्ती है। क्योंकि मूल-पदार्थमें भावात्मक और अभावात्मक दोनों परस्पर विरुद्ध धर्म ठहर नहीं सक्ते हैं।

एक समयमें परमाणुमें चैतन्य है तो दूसरे समयमें चैतन्य नहीं है? ऐसा होना असंभव है। क्योंकि प्रथम क्षणमें चैतन्य-शक्ति उत्पन्न होनेका कारण क्या? परमाणुमें नवीन चैतन्यशक्ति उत्पन्न होनेका कारण मानने पर असत् पदार्थसे प्रादुर्भाव मानना

पड़ेगा, कारण विना कार्य मानना पड़ेगा। पदार्थोंमें नवीन नवीन गुणोंकी उत्पत्ति मानने से पदार्थोंकी स्थिति नहीं हो सकेगी। दूसरे मूल पदार्थ परमाणुमें दूसरे क्षणमें चैतन्यका अभाव मानना असंभव होगा क्योंकि वस्तुका त्याग (अभाव) होना दुर्घटनीय है।

इसी प्रकार परमाणुसे चैतन्य शक्ति भिन्न है तो परमाणुकी वह शक्ति नहीं है। यदि अभिन्न है तो उसका नाश (अभाव) होना असंभव है।

परमाणुमें चैतन्य माननेमें एक यह भी विचार है कि जलके परमाणुमें चैतन्यशक्ति जलरूप होगी और अग्निके परमाणुमे चैतन्य शक्ति अग्निरूप होगी तो फिर इससे चैतन्यशक्तिमें विभिन्नता प्राप्त होगी। एक द्रव्यमें इस प्रकार विभिन्नता मानना प्रत्यक्ष विरुद्ध है, परस्पर विरोध धर्म एक साथ एक समयमें एक द्रव्य रह नहीं सके हैं!

भिन्न २ परमाणुमें चैतन्यता मानने पर अनेक परमाणुओंसे मिलकर बने हुये एक शरीरमें अनेक चैतन्य (जीवको) रखना किस प्रकार संभावित होगा। लोकमें एक शरीरमें एकही चैतन्य रहता है। समस्त चैतन्य परस्पर मिल नहीं सके हैं। जीव राशि अनंत हैं। परंतु प्रत्येक जीवके प्रदेश जुदे जुदे हैं। एक जीवके प्रदेश दूसरे जीवके प्रदेशमें मिल नहीं सके ! यदि मिल जाय तो द्रव्य अपनी शक्तिसे रहित होकर एक ही हो जायगी।

परमाणुमें जो चेतनता है जीव है उसको मिलाकर एक शरीराकार बनानेवाला कौन है ? जो स्वयं मानेंगे तो सब जीव परस्पर एक किस प्रकार मिल गये ? जो दूसरे किसीने मिला दिये

तो भी एक जीवको दूसरे जीवमें मिल जानेकी शक्ति कैसे प्रकट हुई ? परमाणुमें चेतनता अनादि रूपसे है या सादि रूप है। जो अनादि मानें तो जीवको निराकार निरंजन किस प्रकार कह सकेंगे। क्योंकि परमाणु मूर्तीक होनेसे उसका कार्य भी मूर्तीक होगा ? जो परमाणुमें चेतनता सादि है तो वह किस कारणसे कब उत्पन्न हुई ?

इस प्रकार विचार करनेसे परमाणुमें जीव मानना युक्ति और तर्कसे किसी प्रकार भा सिद्ध नहीं हो सक्ता है।

जब परमाणुमें ही जीव मान लिया जाय तो समस्त सृष्टि अनादि माननी पडेगी ? क्योंकि आकाशादि परमाणु सर्वथा नित्य हैं। जन्म-मरणकी कल्पना भी नहीं हो सकेगी ?

जो लोग परमाणुमें जीव न मानकर जीवकी सत्ताको सर्वथा मानते हैं। उनको चैतन्यशक्ति (ज्ञान दर्शन) शरीरमें जीवके विना किस प्रकार होती है यह सुनिश्चित प्रमाण द्वारा निर्धारित करना ही होगा। अन्यथा वस्तुकी सिद्धि नहीं होगी।

चैतन्यशक्ति आत्माको छोडकर अन्य पदार्थमें सर्वथा नहीं रहती है और न किसी प्रकार उत्पन्न हो सक्ती है। जो अन्य पदार्थमें चैतन्यशक्ति मानें तो अजीव पदार्थका अभाव होगा। जो अजीव पदार्थमें चैतन्यशक्ति मिलने पर उत्पन्न होती है ऐसा मानें तो असत्से प्रादुर्भाव मानना पडेगा और कारण विना भी कार्यका होना मानना पड़ेगा। समस्त वस्तु शून्य व एक रूप मनना पडेगी। सो प्रत्यक्ष और युक्ति दोनों प्रमाणोंसे वाधित है

यदि जीव-पदार्थ सर्वथा नहीं है ? ऐसा माना जाय तो स्व-

संवेदन ज्ञानका अभाव होगा, जो सब जीवोंको होना है। जो स्व-संवेदन ज्ञानका अभाव मान लिया जाय तो जगतके समस्त पदार्थोंके अभाव माननेमें क्या आपत्ति है? स्वसंवेदनता प्रत्यक्ष सिद्ध है। सब जीवोंके अनुभवमें है। उसका अभाव किस प्रकार माना जा सक्ता है?

सुख दुःखका अनुभव जीवको ही होता है। जो जीव पदार्थ नहीं माना जाय तो सुख दुःखका अनुभव नहीं होना चाहिये। यंत्र आदिमें गमनागमन करनेकी शक्ति प्रकट होजाती है; बोलनेकी शक्ति प्रकट हो सक्ती है। परंतु सुख दुःखके अनुभव करनेकी शक्ति किसी भी यंत्रमें उत्पन्न नहीं हुई। विद्युत् अथवा मशीन आदिके द्वारा पंचभूतोंको एकत्र करने पर भी किसी एक इंजन या भाप्पयंत्रमें सुख दुःखको अनुभव करनेकी शक्ति नहीं है और न उत्पन्न हो सक्ती है। इससे मालुम होता है कि—"शरीरके आभ्यंतर सुख दुःखको अनुभव रखने वाला और चैतन्य शक्तिके द्वारा अपना स्वरूप व्यक्त करने वाला शरीरसे भिन्न कोई अन्य जीव पदार्थ है।" जिसका स्वसंवेदन सबको होता है। अन्यथा मैं हूं, मैं सुखी हूं, मैं जाननेवाला हूं, मैं क्षुधातुर हूं, मैं पिपासातुर हूं इत्यादि अनेक प्रकारका स्वसवेदन ज्ञान सबको कैसे होता है?

कदाचित् ऐसी शक्ति इन्द्रियोंमें मान ली जाय? तो फिर यही एक प्रश्न रहेगा कि इन्द्रिया जड (अजीव) हैं या चैतन्य? जो इन्द्रियोंको (अजीव) माना जाय तो जड पदार्थमें चैतन्यशक्तिका अभाव होनेसे इंद्रियोंमें ज्ञान दर्शनका अभाव होगा और ज्ञान

दर्शनके अभावसे सुख दुःखका अनुभव इन्द्रियोंको कैसे हो सक्ता है ? जो इन्द्रियोंको चैतन्य (जीव) रूप माना जाय तो जीवकी सत्ता स्वीकार करनी पड़ेगी ।

वास्तविकमें इन्द्रियां जड़ (अजीव) हैं उनमें ज्ञान दर्शन शक्ति नहीं है । परंतु इन्द्रियोंके द्वारा पदार्थोंका परिज्ञान होता है । जानने और देखनेकी क्रिया मात्र इन्द्रियोंके द्वारा होती है। जानने और देखनेका मार्ग इन्द्रिया हैं, इन्द्रियोंमें स्वयं जानने और देखनेकी शक्ति नहीं है। जिस प्रकार बटलोईमें (बर्तनमें) पाचन-शक्ति स्वयं नहीं है । पाचन-शक्ति तो अग्निमे है। परंतु दालका पाचन-कर्म बटलोईके द्वाराही होता है, ऐसे जाननेकी देखने की शक्ति जीवमें है । परंतु छद्मस्थ जीवोंको जाननेकी देखनेकी शक्ति इंद्रियोंके द्वारा ही होती है ।

इन्द्रियां पांच हैं । किसोंके मतमें दश इन्द्रिया मानी हैं । इसलिये प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि स्पर्शन आदि इन्द्रियोंमें पृथक् पृथक् जीव हैं या समस्त इन्द्रियोंमें एक ही जीव है । जो पृथक् पृथक् इंद्रियोंमें भिन्न भिन्न जीवोंकी सत्ता मानी जाय तो एक शरीरमें अनेक जीवोंकी सत्ता माननी पड़ेगी । इन्द्रियोंको जीव मानने से सबसे भयंकर यह आपत्ति होगी कि जिस शरीरमें एक ही इन्द्रिय है उसमें एक जीव मानना पड़ेगा । जिस शरीरमें दो इन्द्रिय हैं उसमें दो जीव मानना पड़ेंगे । इसीप्रकार एक शरीरमें अनेक जीवोंकी सत्ता मानना पड़ेगी । एक शरीरमें पृथक् २ इन्द्रियोंमें भिन्न भिन्न जीव माना जाय तो एक शरीरमें समस्त जीवोंका कार्य एक साथ

होगा, प्रत्येक समयमें समस्त इंद्रियोंका स्वाद सबको होना चाहिये सो कदापि नहीं होता है। एक समयमें समस्त इन्द्रियां अपना कार्य एक साथ नहीं करती हैं।

मृत्युके पश्चात् शरीरमें इन्द्रिया नष्ट नहीं हो जाती हैं किंतु जीवके परलोक गमन करनेसे इंद्रियोंसे देखने जाननेकी शक्ति नष्ट हो जाती है। इसलिये मालुम पड़ता है इंद्रियोंमें ज्ञान-दर्शनशक्ति नहीं है। किंतु इंद्रियोंसे व्यतिरिक्त किसी अन्य पदार्थमें ज्ञान-दर्शन शक्ति है वह जीव है। इसीलिये इंद्रियोंको जानने देखनेकी शक्तिका मार्ग माना है।

इंद्रियोंमें जीवकी सत्ता प्रत्यक्ष प्रमाणसे बाधित है। इन्द्रियोंमें जीवका वास है। जीवके प्रदेश इन्द्रियोंमें रहते हैं परंतु इन्द्रियां स्वयं जीवरूप नहीं हैं।

इन्द्रियां मूर्तिरूप हैं, जीव-पदार्थ अमूर्तिक है। जो इन्द्रियोंको ही जीव मान लिया जाय तो मूर्तिक पदार्थसे अमूर्तिक जीव-पदार्थकी उत्पत्ति मानना असत्का प्रादुर्भाव मानना पडेगा। इसलिये इन्द्रिया जीवरूप नहीं हो सकी हैं।

इन्द्रियोंको जीव इसलिये भी नहीं मान सके हैं कि इन्द्रियोंका विषय मूर्तिमान है परंतु ज्ञान-दर्शन अमूर्तिक पदार्थोंको भी विषयाधीन करता है।

इंद्रियोंको जीव माननेमें आगम-विरोध है। आगममें इन्द्रियां जडरूप बतलाई हैं और आत्माको ज्ञान-दर्शनमय बतलाया है। शरीर और इन्द्रियोंमें भेद नहीं है। शरीर वही इन्द्रिय रूप है

और इंद्रियां शरीरमय हैं। शरीरको छोडकर इंद्रियां अन्य नहीं हैं और इंद्रियको छोडकर शरीर कोई दूसरी चीज नहीं है। इसलिये शरीरको आत्मा मानना सर्वथा असंगत है, प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाणसे वाधित है। जब शरीर आत्मा नहीं हैं तब इंद्रियोंको जीव मानना भी प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाणसे वाधित मानना पडेगा।

इंद्रियोंमें जीव नहीं मानें और मनको जीव मानें तो फिर क्या हानि ? मनके दो भेद हैं—द्रव्य मन और भाव मन। द्रव्यमन-अष्ट कमलके आकार का जो पुद्गलकर्मोंकी रचना रूप शरीरमें आकार है वह द्रव्यमन है। यदि द्रव्यमनको जीव मान लिया जाय तो शरीरको ही जीव मानना पडेगा। वह प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण से सर्वथा वाधित है।

भाव-मन जीवके ज्ञानादिक परिणाम हैं। मनका कार्य विचार-रूप है, हेयोपादेय वस्तुका विचार करना है, हिता-हित मार्गका जान लेना है। उस ज्ञानमें विचारात्मक शक्ति, मननरूप शक्ति, निद-ध्यासनरूप शक्ति मनसे ही होती है। यह ज्ञानका कार्य है। मनको ज्ञानसे भिन्न माना जावे या अभिन्न माना जावे ? जो मनको ज्ञानसे भिन्न माना जाय तो मनको ज्ञानसे पृथक् वस्तु मानना पड़ेगा। इसलिये मनको जीव नहीं मान सक्त और न मनमें चैतन्यशक्ति मान सके हैं। कदाचित् मनको ज्ञानसे अभिन्न माना जावे तो मन कोई पदार्थ नहीं ठहरेगा। क्योंकि ज्ञानको ही मन माननेसे ज्ञानसे भिन्न मन अन्य कोई वस्तु नहीं है। ऐसा सुतरां सिद्ध हो जाता है।

मनकी सत्ता पचेन्द्रिय जीवोंमें ही होती है। यदि मनको ही जीव मान लिया जाय तो एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय चार इन्द्रिय जीवोंको मनका अभाव होनेसे जीव नहीं मानना पडेगा। जिन पंचेन्द्रिय जीवोंके मन है वे ही जीव होंगे और जिन जीवोंको मन नहीं है उनको जीव नहीं मानना पडेगा। इसलिये मनको जीव मानना सर्वथा विरुद्ध है।

मनको मूर्तीक माननेसे आत्माकी कल्पना नहीं हो सकी है। यदि मनको अमूर्तिक मान लिया जाय तो वह जीवरूप स्वतंत्र वस्तु मानना पडेगी।

असलमें इन्द्रियोंके समान मनको जीव माननेमें अनेक प्रकारकी बाधा उपस्थित होती हैं। इसलिये मनको जीव सर्वथा मान नहीं सके हैं।

आत्माको नहीं मानने वालोंकी जड़-पदार्थमें आत्म-कल्पना सिद्ध नहीं हो सकती है। फिर भी प्रश्न यह होता है कि शरीरमें आत्मा है या नहीं? इस विषयमें पूर्व यह बतलाया है कि शरीरमें शरीरसे भिन्न आत्मा है। क्योंकि आत्माका अनुभव स्वसंवेदन-ज्ञानसे सबको होता है। ज्ञान-दर्शनकी शक्ति आत्मामें ही है शरीरमें नहीं है। सुख दुखका अनुभव आत्माकी सत्ताको सिद्ध करता है इस प्रकार अनुमान प्रमाण आत्माको सिद्ध करता है।

यदि शरीरमें आत्मा न माना जाय तो कृतकर्मोंका फल कौन भोगता है? यह बात प्रत्यक्ष सिद्ध है कि प्रत्येक जीवको अपने कृतकर्मोंका फल भोगना पड़ता है। यदि शरीरमें जीवकी

सत्ता न मानी जाय तो कृतकर्मोंका फल भोगनेवालेका अभाव सिद्ध होगा, सो बन नहीं सक्ता है।

हिंसादि पंच भयंकर पापोंको गुप्तरूपसे करनेवाले जीवको उन पापोंका फल मिलना चाहिये या नहीं? जो मिलना चाहिये ऐसा पक्ष स्वीकार किया जाय तो उसका फल इस लोकमें प्राप्त होता है या परलोकमें? जो पापोंका फल इस ही लोकमें प्राप्त हो जाता है ऐसा मानलिया जाय? तो गुप्तरूप कार्यको राजा प्रजा-आदि किसीको भी उन पापोंका परिज्ञान नहीं होनेसे दंड कौन प्रदान करेगा? राजा प्रकट पापोंका दंड देता है। परंतु अप्रकट पापोंका दंड किस प्रकार दिया जा सकता है? मानसीक दुष्कर्मों-का दंड कौन देगा? क्योंकि मानसीक दुष्कर्म सर्वथा ही अप्रकट होते हैं।

इसी प्रकार मानसीक कार्यके द्वारा जप करना, भले कार्योंका चिंतवन करना, मनसे देवके गुणोंका स्मरण करना, मनसे जगतके दुखी प्राणियोंके उद्धार होनेके विचार प्रकट करना, मनसे प्रभुका ध्यान रखना आदि मानसिक व्यापारके द्वारा होने वाले पुण्य कर्मोंका फल आत्माके विना कौन भोग सक्ता है? शरीरादि इस पुण्य-फलको भोगनेमें असमर्थ है।

यदि शुभाशुभ कर्मोंका फल अवश्य ही प्राप्त होता है? तो वह जीवके माने विना किसको प्राप्त होगा? जिन कर्मोंका फल इस लोकमें प्राप्त नहीं हुआ है और कर्म अतिशय तीव्र किये हैं तो उसका फल प्राप्त होगा या नहीं? यदि कृत-कर्मों

का फल अवश्य ही प्राप्त होता है तो शरीर मृत्युके बाद नष्ट हो जाने पर उस फलको कौन भोगेगा? यदि भोगने वाला नहीं माना जाय तो कृतकर्मोंका फल नहीं प्राप्त होता है ऐसा मानना पड़ेगा सो युक्ति और आगमसे सिद्ध नहीं होता है। जो कृत-कर्मोंका फल प्राप्त नहीं होता है ऐसा ही मान लिया जाय तो ईश्वरका भजन, दान, जप, तप, संयम, दया आदि कर्म क्यों किये जायं? क्योंकि उनका फल कौन भोगेगा?

संसारमें एक रोगी, एक दुखी, एक सुखी, एक दीन, एक विडरूपी, एक सुन्दर, एक जन्माध, एक जन्मसे ही कुबड़ा, एक जन्मसे विकलाग इत्यादि प्रकारके भेद देखनेमें आते हैं सो यह किसका'फल है? और उस फलको भोगने वाला कोन है? वे कर्म किस समय किसने किये हैं?

एक मनुष्यको विना श्रम किये ही एकायक (अचानक) अप-रंपार धन प्राप्त हो जाता है। एक मनुष्य जंगलमेंसे लाकर अचानक राज्यपद-पर स्थापित कर दिया जाता है। इस प्रकार विना कारणके यह फल कौन से कर्मसे हुआ? यदि भाग्यसे माना जाय तो भाग्य जीव माने विना किसका समझा जाय? यदि पुरुषार्थसे प्राप्त किया ऐसा माना जाय तो यहां पर अचानक धन प्राप्त करनेमें या राज्यपद प्राप्त करनेमें पुरुषार्थ कुछ भी किया हो ऐसा दीखता नहीं है? तो विना पुरुषार्थ के होने वाली अचानक धनकी प्राप्ति या राज्यपद यह पूर्वभवके शुभ कार्योंका फल माने विना सिद्ध नहीं होता है कारण बिना

कार्य कैसे हो ? पूर्वभवमें शुभ कार्य किये उसका फल राज्यपद और अचानक धनप्राप्ति है परन्तु जीवको माने विना पूर्वभवमें कर्म किसने किये ?

कृतकर्मोंका फल अवश्य ही प्राप्त होता है जो जैसा कर्म करता है वह वैसा ही फल प्राप्त करता है। यह नीति और प्रत्यक्ष शुभाशुभ कर्मोंके फलको प्रकट करनेवाली युक्तिको जीव-पदार्थ माने विना किस प्रकार संघटित कर सके हैं।

कृतकर्मोंका फल अवश्य ही भोगना पडता है, चाहे वह राजा हो, चाहे वह रङ्क हो, विद्वान् हो और चाहे वह मूर्ख अज्ञानी हो। अपने अपने किये शुभाशुभ कर्मोंका फल अवश्य ही सबको भोगना पडेगा। चाहे इसलोकमें भोगो और चाहे परलोकमें भोगो। परंतु कृतकर्मोंका फल अवश्य ही भोगना पडेगा।

जीव-पदार्थ प्रत्यक्ष इन्द्रियोंसे दृष्टिगोचर नहीं है—इसलिये नहीं है ऐसाही मान लिया जाय तो परमाणु आदि सूक्ष्म पदार्थ भी इन्द्रियगोचर नहीं होनेसे माने नहीं जा सके हैं। परन्तु जिस प्रकार परमाणुओंका कार्य (फल) स्कन्धादि प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होनेसे परमाणुको अगत्या अवश्य मानना पडता है, क्योंकि कारण विना कोई भी कार्य नहीं होता है। इसी प्रकार यद्यपि जीव-पदार्थ अतिशय सूक्ष्म होनेसे इन्द्रिय दृष्टिगोचर नहीं है तो भी जीवके किये हुये शुभाशुभ कार्योंका फल (कृतकर्मोंका फल) प्रत्यक्ष दीखता है। इसलिये मालूम होता है कि जीव-पदार्थ अवश्य है अन्यथा कारण विना कार्य कैसे हुआ ?

यदि थोड़े से समयके लिये ऐसाही मान लिया जाय कि जीव नहीं है ? तो शरीरमें ज्ञानादिकक्रिया जीवके बिना कैसे होती है ?

शराब (मद्य) बोतलमें रखी हुई अपना असर कुछ नहीं करती है क्योंकि अचेतन पदार्थमें विकृति देखनेमें नहीं आती है। परंतु वही मदिरा शरीरके भीतर जाने पर विकृति करती है। इससे मालुम होता है कि वह विकृति शरीरको नहीं है। शरीर-को होती तो अन्य अचेतन पदार्थमें भी वह मदिरा अपना फल (असर) दिखलाती या मृतक शरीरमें भी विकृति होने लगती सो तो होती नहीं है। मदिरापानसे जो विकृति होती है वह जीव को ही होती है और उसका व्यंजक शरीर है। क्योंकि हर्ष विशाद शोक मूर्च्छा संतोष तृप्ति सुख आदि जितने विकृतिके कार्य दीखते हैं वे सब एक मात्र जीवके कार्य हैं। जीवके बिना हर्ष शोक विषाद आदि कार्य अचेतन पदार्थमें हो नहीं सक्ते हैं।

यद्यपि जीव-पदार्थ प्रत्यक्ष इन्द्रिय-गोचर नहीं है तोभी भूत-प्रेत-पिशाच और उनके द्वारा होने वाले कार्यसे जीवकी सत्ता अबाधित रूपसे सिद्ध हो जाती है। भूत-प्रेतोंका प्रत्यक्ष कभी कभी सर्वत्र सर्वकालमें होता है। जो जीवको नहीं मानते हैं; उनको भी कभी कभी भूत-प्रेतादिकोंके कार्य देखनेमें आते हैं। अगतिगत्या उनको जीव अवश्य ही मानना पड़ता है। क्योंकि भूत-प्रेतादिकको अकांडव कार्य अमानुषीक और अप्रति-रोध होते हैं। उनका शोधन मनुष्यकी बुद्धिसे परातीत है। इस-लिये जीवको माने बिना सिद्धि नहीं होती है।

जीवकी प्रत्यक्षता कभी कभी जातिस्मरणके द्वारा अनेक जीवोंको सर्वत्र सर्व कालमें होती रहती है। ऐसे अनेक उदाहरण प्रत्येक समय सर्व देशोंमें दृष्टिगोचर होते हैं कि कितने ही बालक अपने पूर्व-भवका स्वरूप प्रगट करते हैं। वे खुलेरूपमें स्पष्ट बतलाते हैं कि मैं यहा पर कैसे आगया, मेरा घर तो अमुक स्थानमें है और मैं अमुक व्यक्ति हूं। वह बालक अपने पूर्व भवकी पृथ्वीमें गढी हुई संपत्ति और अज्ञात विषयोंका दिग्दर्शन कराता है। जिसकी परीक्षा गवर्नमेंट द्वारा भी की जाती है और बड़े २ विद्वान् करते हैं और जो जो बातें अपने जातिस्मरण की बालक बतलाता वह ज्योंकी त्यों नियमसे प्रमाणित होती हैं।

ऐसे बालकोंकी जन्मातरोंकी उनके बतलाये कार्योंकी कथा समय समय पर सप्रमाण प्रकाशित होती है जो शोधकर्त्ताओंकी गहरी शोध सहित जगतको साक्षी बतलाती है कि शरीरमें जीव नामा पदार्थ अवश्य है और वह अपने अपने कर्मानुसार जन्म-जन्मातरको प्रकट करता है।

बनारसके एक बालककी जन्मातर की कथा लोगोंको उसके पूर्वभवमें किये हुये कर्मोंके चमत्कारिक फलको साक्षात प्रकट करती है जिसको पढ़कर कर्म और कर्मोंका फल एवं जीवके अस्तित्वका ही विश्वास नहीं होता है किंतु यह सुनिश्चित धारणा होती है कि शुभकर्मोंका फल जीवोंको अपूर्व सुख-संपतिका प्रदान करनेवाला और समस्त प्रकारकी विघ्नबाधाओंको अवश्य ही दूर करने वाला है। यह बालक पहले बरेलीमें एक अनपढ बढ़ई

(सुतार) था। एक समय इस सुतारने एक गाय को जो कूआ-में (कूपमें) गिरनेको तैयार होरही थी। उस गायको ऐसी कष्ट-दशामें देखकर उसको वचानेके लिये वह दौडा और उस गायको वचानेके वदले स्वयं वह कूपमें गिर गया और गिर कर प्राणांत हो गया, वही वालक वनारसमें एक श्रीमान् धनसंपन्न कुलीन ब्राह्मणके घर पर उत्पन्न हुआ। उस वालकने अपने तृतीय वर्षमें ही पुर्वभवकी सर्व कथा वतलाई। वह कूआ वतलाया। अपने स्त्री माता पिताका नाम वतलाया और अपने घरकी अनेक अप्रकट वातें वतलाईं।

इसी प्रकार आयर्लेंडके एक वालककी जन्मातरकी कथा से कर्म और कर्मोंकी फलप्राप्तिकी आश्चर्यरूप घटना पर सवको चमत्कार हुये विना नहीं रहना है। जन्मांतरकी कथा वालकने अपने चतुर्थ वर्षमें समस्त लोगोंके सामने अपने माता पिताको वार वार कही। प्रथम तो माता पिताको उस कथा को सुनकर विश्वा-स नहीं हुआ किंतु यह समझा कि वालकके मस्तकमें विगाड हो गया है। या माइंडमें गर्मी वढ़ गई दिखलाती है। इसलिये इसका अच्छा इलाज करना चाहिये। यह विचार वडे वडे प्रसिद्ध डाक्टरोंको कहा परन्तु उस वालकके मस्तककी परीक्षा यंत्र तंत्र और विज्ञानसे पूर्ण की गई। सव डाक्टरोंने एक मतसे यही वत-लाया कि वालकका मस्तक पूर्णरूपसे शुद्ध और निर्विकार है। इस वालकका जैसा उत्तम मस्तक है, वैसा अन्य वालकोंका कम होता है। माता पिताने सव प्रकारसे कई अन्य उपाय किये

परंतु एक भी कार्यमें सफलता प्राप्त नहीं हुई। लाचार होकर माता पिताने बालकके कहे अनुसार उसके जन्मांतरके माता पिताका शोध कराया। उस बालकने अपने माता पिता कच्छ (काठियावाड) देशमें राजकोटके पास एक ग्राममें बतलाया। भारत गवर्नमेंटके द्वारा यह शोध की गई तो उसके माता पिता आदिका नाम उस बालकके मरनेकी तारीख उसने बतलाये हुये घरके कार्य सब ज्योंके त्यों मिल गये। मरणके ८॥ साढे आठ महीने बाद उस बालकने जन्म लिया। मरण समय उस बालकके जीवने एक पडोसी बुढिया की रूग्णावस्थामें सेवा की थी। और गरीब लोगोंको वस्त्र प्रदान किये थे। उन वस्त्रोंमें एक सर्प बैठा था जिसके दंशसे वह मरकर आयलैंडमें एक करोडपतिके यहां उत्पन्न हुआ। इसी प्रकार ग्वालियर राज्यमें एक डाकूको पानी पीते हुए एक सिपाहीने मार दिया था, वह मरकर उसी राज्यमें उत्पन्न हुआ। बाल्यावस्थामें ही लडकोंको उस सिपाहीका नाम लेकर उसे मारनेके लिये कहता था पीछे उसने सब कथा सुनाई और महाराजने उसे बुलाया, सिपाहीको पहचान करके बालकने उसे क्षमा प्रदान की, महाराजने बहुत द्रव्य दिया। यह कथा १५ वर्ष की है।

उपर्युक्त घटनाओंसे कर्म कर्मफल और जीव-पदार्थका सुनिश्चित प्रमाण मिलता है।

यदि वास्तविक जीवका अभाव होता तो ऐसी अनेक जन्मांतर की घटनायें जो प्रत्यक्ष होती हैं। कैसे सत्यरूप,प्रमाणित होतीं?

जीवकी सिद्धिमें कितने ही ग्रन्थकारोंने अनुमान प्रमाण बत-

प्रसिद्ध प्रोफेसरोंसे निर्णीत न हो सके उसका निर्णय वह बालक करता था। इस प्रकार बिना शिक्षा प्राप्त किये गणितका चमत्कार बतलाना और गणितके तत्वोंको सांगोपांग जान लेना पूर्व-भवके शुभ संस्कारोंका ही फल समझना चाहिये ? इसीलिये कहना पड़ता है कि ऐसे संस्कार जीवको ही सिद्ध नहीं करते हैं किंतु कर्म और कर्म-फलका प्रमाण प्रत्यक्ष प्रकट करते हैं।

इस प्रकार जीव-पदार्थको नहीं माननेवालोंके लिये प्रत्यक्ष प्रमाण और परोक्ष प्रमाणसे जीवकी सत्ता स्वयमेव सिद्ध होती है। आगम प्रमाणसे भी जीव सत्ता निराबाध सिद्ध है। युक्ति और तर्कके द्वारा भी जीवकी सत्ता पूर्णरूपसे निर्धारित होती है।

अवधिज्ञानी और मनःपर्ययज्ञानी मुनि (योगी) आत्माका साक्षात् अनुभव करते हैं, योगियोंके ज्ञानमें आत्माका सद्भाव प्रत्यक्ष रूपसे प्रतीत होता है। इतना ही नहीं किंतु निमित्त-ज्ञानी भी जीवके सद्भावको अपने ज्ञानके द्वारा प्रकट करते हैं। कर्म और कर्मका फल भी ज्योतिषके द्वारा प्रकट होता है। जीवके बिना कर्म और कर्मफल किसको प्रकट होगा ?

शरीरमें जीव नहीं माना जाय तो स्वतंत्रता पूर्वक होनेवाली ज्ञान-क्रियाओंका अभाव हो जायगा। जिससे एक भी क्रिया ज्ञान-पूर्वक नहीं होगी। यन्त्र आदिसे जो क्रिया होती है वह ज्ञान-पूर्वक स्वतंत्र रूपसे नहीं होती है। किसी न किसी रूपमें पराधीनताका आश्रय ग्रहण करना पड़ता है परंतु सचेतन पदार्थोंमें क्रिया निराश्रय होती है। इसलिये मालुम पड़ता है कि जीव-पदार्थ इस

शरीरके अभ्यंतर अवश्य है उसके निमित्तसे समस्त कार्य ज्ञान-पूर्वक स्वतंत्ररूपसे निरंतर होते रहते हैं। मृत्युके पश्चात् वे कार्य बंद हो जाते हैं। इस प्रकारकी क्रियाओंसे भी जीव-पदार्थकी सिद्धि होती है।

जबकि सिद्धिके लिये कभी कभी मंत्रशास्त्र सर्वोत्कृष्ट फल प्रदर्शित करता है। कितने ही मंत्रवादी सर्पके द्वारा दंश किये हुये मनुष्यका वैरभाव कारण प्रकट कराते हैं। उसमेंसे कितनेही पूर्वभव (जन्मांतर) के वैरभावसे सर्पने दंश किया और उसका अमुक प्रमाण है ऐसा स्पष्ट बतलाते हैं। कितने ही सर्प धनके स्थान पर वास करते है और धन न ग्रहण करनेके लिये जन्मां-तरका कारण स्पष्ट बतलाते हैं।

कितने ही मन्त्रवादी मंत्रके द्वारा देव देवीके द्वारा पूर्वभवका संबंध उपकार प्रत्युपकार और अनुग्रह प्रगट करते हैं।

कितने ही मंत्रवादी रोगादि शमन करनेके लिये दान पुण्य कराते हैं। परमात्माका जप, ध्यान, पूजन और भक्ति स्नपनादि कराते हैं और पूर्वभवके अशुभ कार्योंके प्रबल उदयको इस प्रकार शांत करते हैं।

यह सब तब ही बन सकता है जबकि जीव-पदार्थ और कर्म एवं कर्मफलको मान लिया जाय। अन्यथा तत्काल विनाशवंत क्षणिक पदार्थोंमें ऐसी घटना किसी प्रकार भी संभावित नहीं हो सकी हैं।

इस प्रकार जीव-पदार्थकी सिद्धि प्रत्यक्ष परोक्ष प्रमाणसे

निरावाध प्रमाणित होरही है । स्वसंवेदनज्ञान द्वारा सबको व्यक्त हो रही है । सबके अनुभवमें आ रही है ।

चार्वाक और नास्तिक जीव-पदार्थको नहीं मानते हैं? जीव-पदार्थके नहीं माननेसे संसारमें अन्याय अत्याचार और जुल्मोंकी मात्रा मर्यादातीत हो जाती है । किसी भी पापकर्मसे उनको भय नहीं होता है और न पापकार्योंका विचार ही उनको उत्पन्न होता है, पिशाच कर्म, पाशविक्त और घोर निर्लज्जताके भयंकर कर्म नास्तिक लोग करनेमें जरा भी नहीं हिचकते हैं ।

नास्तिक लोग पाप और पुण्यको भी नहीं मानते हैं, जब जीव-पदार्थ ही स्वीकार नहीं है तब पुण्य और पाप क्यों मानने लगे । फल यह होता है कि हिंसा, झूठ, चोरी, दुर्व्यसन आदि भयंकर मलिनावरणसे नास्तिक लोगोंका जीवन व्यतीत होता है।

नास्तिक लोगोंका सिद्धान्त यही है उनने अपना ध्येय भी इसी प्रकार माना है । यथा—

यावज्जीवं सुखात् जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत् ॥
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ॥ १ ॥

अर्थ—जब तक जीवन है तब तक अपने शरीरको खूब सुखी बनाये रखे । यदि अपने पास सुख-सामग्री न हो तो ऋण कर सुख-सामग्री [घृत आदि सुख सामग्री] को एकत्र करे, ऋण करनेसे पुत्र और स्वयं अपनेको दुःख होगा ऐसा विचार नहीं करना चाहिये क्योंकि-देहके भस्मीभूत होने पर फिर कौन आता है । पुनर्जन्म किसका होता है जो इसका फल भोगे ।

भावार्थ—चाहे संसारका भले ही नाश हो और उस नाश करनेमें अन्यान्य अत्याचार और सब प्रकारके जुल्म करने पड़ें, हिंसा झूठ चोरी पापाचरण और व्यभिचार आदि मलिनाचरण करने पड़ें तो भी उनकी जरा भी परवाह न करके अपनी मोजमजामें मस्त रह कर सुखी रहना चाहिये, पापके भयसे मोजमजा भोग-विलासमें जरा भी विघ्न नहीं डालना चाहिये क्योंकि मरनेके बाद पाप और पुण्यका फल किसको मिलेगा। जब जीव-पदार्थ और कर्मफलको माना जाय तो पापकर्मोंसे निवृत्ति नहीं होती है। मनमें ग्लानि नहीं होती है। पापोंसे भय नहीं होता है।

जो जीव-पदार्थ और पुण्य-पापको मानता है वही पाप-कर्मों से बचनेका प्रयत्न करता है। समस्त जीवोंकी दया पालन करता है, क्रूर और दीन प्राणियोंको भी अपना बंधु मानता है, उनके साथ निष्कपट भावसे सदाचारका व्यवहार करता है। सबकी रक्षा करता है। अन्याय करनेमें भयभीत होता है किसी भी प्राणी पर अत्याचार करनेकी उसकी भावना नहीं होती है। वह अन्य प्राणियों पर जुल्म करनेमें हृदयसे कंपित होता है। हिंसा-झूठ-पापाचरण चोरी-व्यभिचार और दुर्व्यसनोंसे किसी जीवको भी नहीं सताना चाहता है।

वह विचार करता है कि जो मैं अपनी स्वार्थसिद्धिके लिये अन्य जीवोंके साथ अन्याय करूंगा तो मुझे उसका फल इस लोकमें तथा परलोकमें अवश्य ही भोगना पडेगा। कृत-कर्मोंका फल अवश्य ही सबको नियमसे प्राप्त होता है। चाहे राजा हो।

चाहे रक हो। चाहे दीन चाहे समर्थ हो। चाहे बलवान हो। चाहे विद्वान् हो। चाहे मूर्ख हो-अज्ञानी हो। चाहे धनवान हो। चाहे गरीब हो, चाहे चींटी जैसा अत्यंत क्षुद्र जंतु हो-निगोदिया जैसा स्वल्पतम क्षुद्र जंतु हो। चाहे पृथ्वीकाय हो। चाहे वायुकाय या वनस्पतिकाय हो। चाहे हाथी हो किसी प्रकारका प्राणी क्यों न हो परंतु अपने कृत-कर्मोंका फल सबको भोगना ही पडेगा। जो बलवान मनुष्य अपनी स्वार्थसिद्धिसे अन्धा बनकर दूसरे असमर्थ दीन और क्षुद्रजंतुओंको सताता है उसका फल उसको अवश्य ही भोगना पडेगा। अरे! अपने मनमें भी किसी दीन प्राणीको कष्ट पहुंचानेका इरादा किया जाय, किसीकी हानिका विचार मात्र किया जाय, किसी जीवको नाश करनेकी भावना की जाय या मलिनाचरण व्यभिचार (विधवाविवाह आदिके द्वारा) करनेका मनमें संकल्प या विचार किया जाय तो भी उसका भयंकर फल भोगना ही पडेगा। अवश्यही भोगना पड़ेगा। कृत-कर्मोंका फल भोगे विना कर्मोंकी निर्जरा होनी है।

जीव कर्म और कर्मफल की श्रद्धा करनेवाले भव्यजीवके आचरण व्यापार और दैनिक चर्या परम विशुद्ध और परम पवित्र होती हैं। वह विचारता है कि मेरे किसी भी कर्तव्यसे किसी जीवको कष्ट न हो, मलिन पदार्थके भक्षणसे मेरी बुद्धि भ्रष्ट न हो, मलिन रज वीर्यसे मेरी संतानका पिंड (शरीर) मलिन न हो, मलिन स्पर्शास्पर्शसे मेरी मति गति मलिन न हो, मेरे व्यापारमें अनीति और अन्याय न हो, मेरे धनका समागम जोर-जुलम पूर्वक

न हो। मेरी भोगोंकी वासना असदाचार-पूर्ण नीति रहित दुर्व्य-सन रूप न हो। मेरा एक भी ऐसा कर्तव्य न हो जिससे मुझे पर-लोक और इहलोकमें अशुभ फल मिले। इसीलिये वह दान, पूजा व्रत, तप, जप, संयम, ब्रह्मचर्य आदि धार्मिक पुण्यकार्योंको भक्ति-पूर्वक विशुद्धपनसे करता है, निष्कपटभावोंसे निर-भिमान-पूर्वक करता है।

वह राज्यका पालन इस प्रकार करता है कि जिससे प्रजामें अनीति अन्याय व्यसन और पाप-कर्मोंकी वृद्धि न हो। दुर्जनों को (अनीति करनेवालोंको) वह दंड देता है। सज्जनोंकी रक्षा-धर्मरक्षा, नीतिरक्षा और सदाचारकी मर्यादाकी रक्षाके लिये करता है। परंतु जिसदेशमें जीव-कर्म और कर्मफल नहीं मानते हैं वहां पर प्रजा-पीडन अन्याय, अत्याचार, जुल्म-पूर्वक किये जाते हैं। अपने मोज-मजाके लिये निरपराध सैकड़ों लाखों प्राणियोंके मारनेमें दया नहीं आती है। चलते आमके द्वारा गांवके गांव जला दिये जाते हैं। बम आदि विषैले पदार्थोंसे दीन प्राणियों का एकसाथ संहार किया जाता है। व्यभिचारमें धर्म मान लिया जाता है। झूठ बोलनेमें पाप नहीं माना जाता है। न्याया-लयोंमें भी न्यायके करनेके लिये दिनदहाडे झूठेको सत्य और सत्यको झूंठा साबित किया जाता है। बात बातमें घूंसके द्वारा चुप चुप अनंत चोरियां की जाती हैं। थोडा वृद्ध हुआ कि उसको गोलीके द्वारा समाप्त कर दिया जाता है। धन कमानेके लिये क-साईखाने खोले जाते हैं। पशु-पक्षी आदि क्षुद्र जंतुओंको मार-कर अपना स्वार्थ सिद्ध किया जाता है।

जीवकर्म और कर्मफलकी प्राप्ति माने विना सदाचारके पवित्र आचरण सर्वथा नहीं हो सक्ते, वास्तविक दयाका स्वरूप प्रकट नहीं होता। परिणामोंमें उतनी विशुद्धि ही नहीं है न अंतःकरणमें ऐसे दयार्द्रभावोंके विचार ही उत्पन्न होते हैं, न सन्नीति और सदाचार पालन करनेके भाव होते हैं। नास्तिक भावोंकी वासनासे विचार और भावोंमें तीव्रतर निष्ठुरता प्रत्यक्ष मूर्तिमान स्वरूप धारण कर आ धमकती है। इसलिये बात-बातमें अपने स्वार्थसिद्धि मोजमजा भोगविलासोंकी प्राप्तिके लिये द्रुतगतिसे दौड लगाता है। इस प्रकारकी दौड धूपमें नीति और सदाचारका विचार नष्ट होजाता है। किसी भी प्रकारसे मुझे भोगविलास और मोजमजाकी प्राप्ति हो। चाहे उसकी प्राप्तिमें संसारका नाश होता हो, तो भले ही हो, अन्य असमर्थ और दीन प्राणियोंकी हिंसा हो तो भले ही हो इसमें मेरी क्या हानि ? मुझे तो मेरे प्यारे भोगादि पदार्थोंकी प्राप्ति होना चाहिये ! मेरा जीवन भोगोंकी प्राप्तिमें है और मेरा मरण भोगोंकी अप्राप्तिमें है। मेरा सुख इन्मेंही है। यदि मुझे किसी भी प्रकार (नीति अनीति पूर्वक) भोगोंकी प्राप्ति हो गई तो स्वर्ग और मोक्षसुख प्राप्त हो गया। इसके सिवाय स्वर्ग और मोक्ष सुख नहीं हैं और भोगोपभोगसंपदाका नहीं मिलना ही दुःख है, नरकका वास है॥ संसारमें ही स्वर्ग नरक है। इस प्रकार भोगविलासोंकी प्राप्तिमें ही मोक्षसुख माननेवाले नास्तिक लोग पाप करनेमें जरा भी नहीं डरते हैं, अनीति अत्याचार और जुल्म करनेमें भयभीत नहीं होते हैं। हिंसा झूंठ चोरी और निन्द्य-कार्योंके

सेवन करनेमें ग्लानि नहीं करते हैं। बल्कि हिंसादि पाप-कर्मोंमें धर्म मानते हैं। स्वार्थसिद्धि होना ही धर्म है। अपने स्वार्थके लिये गोवधमें धर्म मानते हैं; मांसमदिरा सेवन-करनेमें धर्म मानते हैं। स्वस्त्री, परस्त्री, सधवा, विधवा, बहिन, कन्या आदि सब प्रकार की स्त्रियोंके साथ खुले रूपमें व्यभिचार करते हैं। यदि सर्कारी कानुन न हो तो मनुष्य मनुष्यका भक्षण करने लग जाय तो इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है। यों तो धनसंपन्नोंकी नीति है कि गरीबोंके हम सत्ताधिकारी हैं मालिक हैं चाहें उनका जीवन अपने स्वार्थके लिये रहने देवें चाहे अपने स्वार्थके लिये उनका जीवन नाश करें।

पश्चिम देशमें नास्तिकता व्याप्त है; परिपूर्ण रूपसे नास्तिकता का वहां पर साम्राज्य है, तो वहाकी परिस्थिति कैसी चारित्र विहीन, नीति रहित, दया रहित, स्वार्थसे भरी हुई- अतिशय निकृष्ट मलिनाचरण परिपूर्ण है। पाप और पुण्य न मानने वाले पश्चिमदेशका सदाचार कितना पतित है इसकी तुलना अधम दशाको प्राप्त हुये इस भारतसे की जाय तो पश्चिम देशको दुराचार और दुर्व्यसनोंकी राजधानी कहनेमें जरा भी अतिशयोक्ति नहीं है। वहांकी समर्थ प्रजा अपने आधीनस्थ प्रजाको चाटनेमें जरा भी कोर कसर नहीं रखती है। हिंसाके व्यापारमें धर्म मानती है। मायाचार और विश्वासघातको नीति मानती है। इसी प्रकारकी शिक्षा भी सबको दी जाती है। यह सब जीवकर्म और कर्मफल नहीं माननेका ही दुष्परिणाम है।

पश्चिम देशके वातावरण शिक्षाके द्वारा धार्मिक और आस्तिकतासे परिपूर्ण भारतवर्षमें भी दुर्गति व्यामोहके जालमें बढ़ते चले आरहे हैं इस प्रकार धीरे धीरे भारतवर्षका पवित्र गौरव-पूर्ण सदाचार, नीति और दयापूर्ण धर्म नष्ट होता चला जा रहा है और उसके स्थानमें दुराचार, दुर्व्यसन, कपटपटुता, विश्वासघात अन्याय, अधर्म और मलिनाचार बढ़ता चला आरहा है।

वर्तमानकी शिक्षा धर्म-कर्म, पुण्य और पापको नहीं मानती है इसीलिये पापाचारमें अधर्म नहीं मानती है, दुर्नीतिको दुर्नीति नहीं समझती। न्यायालयमें सत्यको मिथ्या और मिथ्याको सत्य साबित करनेमें अधर्म नहीं मानती ? यह सब पाप और पुण्य एवं जीव नहीं माननेका ही दुष्परिणाम है।

जीव मात्रका हित जीव, पुण्य और पापके माननेसे ही होगा। जीव माने विना, या कर्म कर्मफल माने विना कोई भी मनुष्य उत्तम सदाचारको पालन नहीं कर सका ? और उत्तम सदाचार पाले विना आत्माका हित सर्वथा नहीं हो सका है।

जिन लोगोंको संसारके विषम दारुण दुःखोंसे भय है जन्म मरणकी दुस्सह पीड़ाको नाश करनेके जिनके भाव हो गये हैं। जो क्षुधा-तृषा-काम-क्रोध-मान-माया-लोभ-मत्सर-द्वेष-राग और समस्त प्रकारकी प्रपंचना भगाना चाहते हैं। जो आत्मीय अक्षय अनंत सुखको प्राप्त करना चाहते हैं। जो समस्त जीवों पर दया पालन चाहते हैं। जो पापोंसे बचना चाहते हैं उनको सबसे प्रथम जीवकर्म और कर्मफल पर श्रद्धा रखनी चाहिये।

जिनको स्वर्ग नरक की श्रद्धा नहीं है। उनको पाप और पुण्यकी भी श्रद्धा नहीं है, जीवकी भी श्रद्धा नहीं है। वे लोग हिंसा झूंठ चोरी आदि पापोंसे बचनेके लिये क्यों प्रयत्न करेंगे? उनके विचारोंमें बुरे कर्मोंका फल बुरा होता है और अच्छे कर्मोंका फल अच्छा होता है यह बात प्रमाणित किस प्रकार हो सकी है।

"जो जैसा करेगा वह वैसा फल पायेगा" इस प्रकारकी धारणा और ऐसे विचार जीवकर्म और कर्मफल नहीं मानने वालोंके कैसे हो सकते हैं? उनके हृदयमें नास्तिकताकी दुर्गंध ऐसे विचारोंको किसी भी समय अंकुरित नहीं होने देती है। वे समझते हैं जबकि जीव ही नहीं है तब पापकर्मोंका फल कौन भोगेगा? और स्वर्ग नरक हैं कहां? यह सब लोगोंको एक प्रकार की डरावनी है जिस प्रकार बालकको हऊआका भय बतलाकर अपना मतलब बना लिया जाता है। उसी प्रकार पापका भय बतलाकर जनताको डराया जाता है? बस इस प्रकारके उछृंखल विचारोंसे मस्तकमें दुर्वासना भर जाती है।

इस प्रकार उछृंखल विचारोंसे मनुष्योंके कार्य स्वच्छन्दता से अनीति-पूर्ण निंद्य हो जाते हैं। पापकर्मोंके करनेमें जरा भी संकोच या लज्जा प्राप्त नहीं होती है। नास्तिक-शिक्षासे दीक्षित नवयुवक इसी प्रकार ही स्वच्छंदतासे उद्धत और निंद्यकर्म-निरत हो जाते हैं।

समस्त मलिन विचारोंका साम्राज्य जीव, कर्म, कर्मफल नहीं

माननेसे तत्काल ही होता है। यह बात इतिहास, प्रत्यक्ष प्रमाण और युक्तिसे निराबाध सिद्ध होती है।

आत्मकल्याण करनेवाले भव्यजीवोंको सन्मार्ग पर चलनेके लिये सबसे प्रथम जीवकर्म और कर्मफल पर पूर्ण श्रद्धान रखना चाहिये।

जीवकी सिद्धि ऊपर अनेक प्रमाणोंसे की जा चुकी है। और कर्म तथा कर्म-फल जीवके साथ किस प्रकार संबंध रखते हैं जीवोंको कर्मोंने किस प्रकार अपने स्वाधीन परतंत्र कर रखा है इसका दिग्दर्शन आगे किया जायगा परंतु अभी हमें जीवके स्वरूप में जो भ्रांति है वह जानलेना परमावश्यक है।

कितने ही विचारशील महाशय! जीवको मानते हैं परंतु उसको कूटस्थनित्य मानते हैं। जीवको कूटस्थनित्य मानना या नहीं इसी बातका विचार सामने रखते हैं। कूटस्थनित्य शब्दके दो अर्थ होते हैं।

(१) जिस वस्तुके कारण-कलापोंको न मान कर वस्तु अनादिकालसे स्वयं सिद्ध सर्वथा अपरिवर्तनशील सर्वथा नित्य अविकारी मानना यह कूटस्थनित्य है। (२) जो वस्तु अपने स्वभावसे च्युत हो वह भी कूटस्थनित्य कहलाता है।

यदि कूटस्थनित्य जीव पदार्थ मान लिया जाय तो वस्तुका स्वरूप कभी किसी प्रकारसे सिद्ध नहीं हो सक्ता है। समस्त पदार्थ अपने गुणपर्यायोंसे भिन्न भिन्न अवस्थाको धारण कर रहे हैं ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है कि जिसमें समय समय पर उत्पाद

व्यय और ध्रौव्य नहीं रहता हो। सर्वथा अपरिवर्तनशील, सर्वथा नित्य, सर्वथा अपरिणमनशील कोई भी पदार्थ नहीं है। सर्वथा अपरिणमनशील पदार्थ मान लिया जाय तो पदार्थोंकी दृश्यमान होने वाली पर्यायोंका (जो प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो रही हैं) सर्वथा अभाव हो जायगा।

प्रत्यक्ष होनेवाली पर्यायोंका अभाव माननेसे वस्तुका ही सर्वथा अभाव होता है। द्रव्य अपना स्वरूप धारण कर नहीं सकती है। संसारी जीवोंकी प्रत्यक्षमें होनेवाली नर-नारकादि पर्यायोंको नहीं माननेसे जीवपदार्थ नहीं माना ऐसा कहनेमें किसी भी प्रकारकी अतिशयोक्ति नहीं है।

यदि जीव कूटस्थ-नित्य है तो नर-नारकादि होनेवाली पर्याय जीवकी हैं या नहीं ? यदि जीवकी हैं तो फिर कूटस्थनित्य किसप्रकार माना जाय। क्योंकि नर-नरकादि पर्याय क्षणस्थायी हैं। क्षणक्षणमें नवीन नवीन पर्याय अपने अपने कर्मोंसे जीवमें उत्पन्न होती हैं और विलीन हो जाती हैं।

जीवकी अशुद्धता है तो केवल नर-नरकादि पर्यायकी दृष्टिसे ही होती है। कर्मोदयसे जीव नरकादि पर्यायोंको धारण करता है। इसलिये जीवको सर्वथा नित्य मान नहीं सकते हैं।

सर्वथा नित्य माननेसे पदार्थोंमें क्रियाकारकत्वका अभाव होगा। अर्थक्रियाकारक अभाव होनेसे संसारके समस्त व्यापार नष्ट हो जायगे। सर्वथा नित्य माननेसे द्रव्यका सद्भाव नहीं ठहर सकता है।

जो जीव-पदार्थको सर्वथा अपरिणामी मान लिया जाय तो बालक-वृद्ध-युवा आदि दशाओंका अभाव मानना पडेगा परंतु बालक-वृद्ध-युवा आदि पर्याय निरंतर उत्पन्न होती ही रहती हैं। तथा व्यवहारका लोप मानना पडेगा।

व्यवहारमें नवीन घट-पटादिकी उत्पत्ति निरंतर होती ही रहती है। वनस्पति निरंतर अंकुरित होती है, मेघ वृष्टि होती है, क्षणस्थायी विद्युत अपना चमत्कार बतलाती ही है इसप्रकार व्यवहारमें गृहादि समस्त पदार्थोंमें विनाश और उत्पाद प्रकट हो रहा है। जीव-पदार्थ भी मरणको प्राप्त होता है। अपनी शरीर-पर्यायको छोडता है। जीव पदार्थ जन्मको प्राप्त होता है अपने कर्मोदयानुसार नवीन पर्याय धारण करता है यदि सर्वथा अपरिणामी मान लिया जाय तो उपर्युक्त व्यवहारका सर्वथा लोप होगा।

शरीरमें रोग होता है शरीरमें बल, वीर्य, तेज, कांति बढती घटती है। जो जीव पदार्थ नित्य माना जाय तो उपर्युक्त क्रियाओंका अभाव हो जायगा।

एक ही जीवको एकसमय क्रोध होता है तो दूसरे समय उसी जीवको हर्ष होता है तीसरे समय शोक होता है चौथे समय उद्वेग होता है पांचवे समय संताप होता हैं छठे समयमें आनंदित होता है। इसप्रकार जीवमें क्षण क्षण नवीन पर्याय उत्पन्न होती हैं जो जीवको सर्वथा अपरिणामी मान लिया जाय तो ये पर्याय कैसे उत्पन्न हुई? सर्वथा अपरिणामी वस्तुमें परिणमन

(उत्पाद) होता नहीं है और उत्पाद प्रत्यक्ष दीख रहा है तो फिर जीव-द्रव्यको सर्वथा नित्य किस प्रकार मान लिया जाय ?

क्रोध हर्ष शोक संताप-सुख-आनंद और उद्वेगादिक पर्याय अजीवकी (शरीर) कह नहीं सक्ते हैं, क्योंकि हर्ष आदि गुण जीवके विभाव-परिणाम हैं। यदि अजीवके होते तो इन गुणोंमें ज्ञानका उद्भास प्रतीत नहीं होता। शरीरमें ये गुण माने तो मृतक शरीरमें भी ये गुण व्यक्त होने चाहिये। अजीव-पदार्थमें ये उपर्युक्त गुण माननेसे जीवाजीवका भेद लोप होगा इसलिये जीवको सर्वथा नित्य मानना अपरिणमनशील मानना प्रत्यक्ष प्रमाणसे विरुद्ध है।

एक जीवमें प्रथम समयमें ज्ञान कम है। बालक प्रथम समय में कम ज्ञान रखता है अथवा बालकको स्वल्पज्ञान होता है परंतु वही बालक युवा होनेपर अतिशय प्रज्ञावान समस्त शास्त्रोंका वेत्ता हो जाता है। इस प्रकार एक जीवमें ज्ञानकी तर-तम अवस्था (न्यूनाधिकता) जीव-पदार्थको सर्वथा अपरिणामी माननेसे हो नहीं सक्ती है।

ज्ञान गुण आत्माका ही है जो आत्मामें ज्ञानकी तरतमता कालके व्यवधानसे होती है वह शरीर आदि जड़ पदार्थकी नहीं है यद्यपि जीव सहित शरीरको ही जीव व्यवहारसे कहते हैं। जिसमें इन्द्रिय-आयु-श्वासोश्वास और काय ये चार बातें हों वही जीव है। मनुष्य शरीरमें उक्त चारों बातें दृष्टिगोचर हो रही हैं इसलिये मनुष्यका शरीर ही कथंचित मनुष्य जीव है। तो भी ज्ञानगुण

यह तो आत्माका ही धर्म है। ज्ञानमें न्यूनाधिकताका होना जीव की पर्यायको अनित्य सिद्ध करता है इसीलिये यह तो मान नहीं सक्ते कि जीव सर्वथा ही अपरिणामी है। एकांतसे सर्वथा अपरिणामी मानना व्यवहार-दृष्टिसे अशुद्ध जीवका लोप करना है, कर्म और कर्मफलका लोप करना है। अशुद्ध जीवका लोप करने से शुद्ध जीवका भी लोप हो जायगा।

यदि जीवको कूटस्थ नित्य मान लिया जाय और नर-नारकादि पर्याय जीवकी नहीं मानी जायं तो नरकादि पर्याय जीवको छोडकर किसकी मानी जायं? अजीवकी या किसी क्षणस्थायी जीवकी? दोनों पक्षमें दूषण है। जो नर-नरकादि पर्यायोंको अजीव की पर्याय मान लिया जाय तो अजीव-पदार्थमें ज्ञान, दर्शन, सुख, अनुभव आदि जीवके गुण अवश्य ही मानने पड़ेंगे फिर जीव-पदार्थ ही नहीं ठहरता है और जीव-पदार्थ मानते हो सो ये दोनों बातें परस्पर विरुद्ध किसप्रकार मान्य और प्रमाणित हो सक्ती हैं।

यदि जीवको क्षणस्थायी मानते हैं तो प्रतिज्ञाकी हानि होगी कि जीव कूटस्थ-नित्य है। कूटस्थ-नित्य मान कर फिर क्षणस्थायी मानना यह सर्वथा विरुद्ध है अज्ञानता है। पवनकी नियामकता नहीं है। मनकी स्थिरता नहीं है और तत्वकी सुनिश्चितता निराबाध प्रमाण नहीं है।

यदि कूटस्थनित्यका अर्थ सर्वथा अपरिणामी न मान कर अपने स्वभावसे च्युत नहीं माना जाय (जो कि प्रारंभमें दो प्रकार की व्याख्या कूटस्थ-नित्य शब्दकी है) तो उसमें भी दो विकल्प

होता है। परंतु गुणोंमें परिणमन अवश्य होता है। आममें हरा रंग था (हरा यह पुद्गलका गुण) परंतु थोडेसे समय बाद पीला होगया। इस प्रकार गुणोंमें परिणमन निरन्तर होता ही रहता है। इसलिये कूटस्थनित्यका अर्थ स्वभावच्युतिका नहीं होना मानकर गुणोंमें परिणमन नहीं माना जाय तो वस्तु अपना स्वरूप धारण कर नहीं सक्तो है। कूटस्थनित्यका अर्थ स्वभावसे अच्युति भले ही मान लिया जाय परतु गुणोंमें परिणमन अवश्य ही मानना पडेगा। कूटस्थनित्यका अर्थ स्वभावसे अच्युति और अपरिणामी मानेंगे तो वस्तु कभी भी अपनी सत्ताको धारण नहीं कर सकेगी तथा भेद व्यवहार नहीं होगा। अर्थमें क्रियाकारकका अभाव आ जायगा।

गुणोंके परिणमनसे द्रव्यमें भी परिणमन निरंतर होता ही रहता है। क्योंकि गुणोंका समुदाय ही द्रव्य है। जो गुणोंमें परिणमन अप्रतिहत है तो द्रव्यका परिणमन भी निराबाध सिद्ध है। आममें प्रथम खट्टा रस था परंतु पकने पर मीठा रस होगया यह गुण परिणमन होने पर द्रव्य (आमद्रव्य) में परिणमन हुआ कठिनसे नरम और मृदु होगया।

शून्यताका प्रसग आजायगा। गुणोंका अभाव हो नहीं सक्ता है वस्तु अपने अस्तित्वको गुणोंसे ही धारण करती है। गुणोंका अभाव होनेपर शून्य भावको धारण करेगी।

जो लोग मोक्षमे द्रव्य और गुणोंका अभाव मानते हैं वे अविचारज्ञ हैं।

इस प्रकार द्रव्यकी गुणोंसे स्वभाव-च्युति नहीं होती है परन्तु गुण और द्रव्यमें परिणमन अवश्य ही होता है। कूटस्थनित्यका अर्थ द्रव्य अपने गुणोंको नहीं छोड़ती है एतावन्मात्र माननेसे विशेष हानि नहीं है। किन्तु द्रव्य और गुणोंमें परिणमन अवश्य ही मानना पड़ेगा

द्रव्य और गुणोंमें परिणमन प्रत्यक्ष दृष्टि गोचर हो रहा है। यदि जीवद्रव्य और जीवद्रव्यके गुणोंमे परिणमन नहीं माना जाय तो जीवद्रव्यकी अनादिकालसे जो अशुद्ध अवस्था कर्मोदयके कारणसे हो रही है यह नहीं मानी जायगी। कर्म और कर्मफलका स्वरूप नहीं बनेगा। साथ २ में जीवद्रव्यका पूर्ण स्वरूप निश्चित नहीं हो सकेगा।

द्रव्योंमें अगुरुलघु नामका एक गुण है जो द्रव्योंमें निरंतर परिणमन करानेमें सहकारी होता है। अनंतगुण हानि वृद्धि षट्स्थानोंके द्वारा द्रव्यमें यह अगुरुलघु निरंतर कराता ही रहता है। जिसमे द्रव्य और गुण दोनोंमें निरनर परिणमन समय समय पर होता रहता है समय यद्यपि अत्यन्त सूक्ष्म है और अगुरुलघु गुणके द्वारा अनंतगुण वृद्धि तथा अनंतगुण हानि आदि जो क्रियात्मक कार्य निरंतर होता है उससे वस्तु और वस्तुके स्वभाव (गुण) में परिणमन होता ही रहता है।

द्रव्यकी चाहे अशुद्ध अवस्था हो अथवा शुद्ध अवस्था हो परंतु द्रव्य अपने अगुरुलघु गुणके द्वारा अनंतभाग वृद्धि अथवा हानि

रूप षट्स्थान रूप अवश्य होती ही रहेगी। एक परमाणु जो अत्यन्त सूक्ष्म है नेत्र इन्द्रियके गोचर नहीं है। इससे सूक्ष्म वस्तुका रूप नहीं है। परंतु उस परमाणुके गुणोंमें अगुरुलघुगुण द्वारा परिणमन होगा ही। परमाणुके (एक रूप या गंध आदि किसी गुणको ले लीजिये) रूपगुणमें जो असंख्यात अविभागी प्रतिच्छेद हैं उन अविभागी प्रतिच्छेदोंमें अनंतभाग वृद्धि या हानि पट् रूप होगी ही। जो द्रव्यके मूलरूप परमाणुमें और परमाणुके गुणों में इसप्रकार परिणमन माना जाय तो परमाणुओंके बंध रूप स्कंधमें अर्थक्रियाका अभाव होगा। शुद्ध जीव-द्रव्य (सिद्ध परमात्मा) के द्वारा निरंतर परिणमन होता है।

द्रव्यमें उत्पाद व्यय और ध्रौव्यका विचार किया जाय तो उसका मूल कारण सत्तागुण और सहकारी कारण द्रव्यत्व आदि गुण हैं। आभ्यंतर कारण द्रव्यकी सत्ता शक्ति है और उस शक्तिमें सहायक द्रव्यत्व और अगुरु लघु गुण है। जो द्रव्यमें उत्पाद होनेकी शक्ति ही नहीं हो तो द्रव्यमें परिणमन हो नहीं सका। इसलिये समस्त द्रव्योंमें स्वभावतया परिणमन होनेकी शक्ति है। तब ही तो द्रव्यमें परिणमन होता है उत्पाद व्यय और ध्रौव्यपना होता है। परिणमन होते हुये भी द्रव्य अपने २ गुणको अपने अपने स्वरूपको सर्वथा नहीं छोडती है गुणोंका नाश नहीं होता है। और गुणोंका नाश नहीं होनेसे द्रव्यका नाश नहीं होता है। इसीलिये उत्पाद और व्यय होनेपर भी द्रव्यमें ध्रौव्यता नियमित रूपसे बनी रहती है।

जलमें तरंग स्वभावरूपसे निरंतर होती है द्रव्यमें भी स्वभाव-रूप परिणमन होता है। शुद्ध द्रव्यमें स्वभावपरिणमन होता है। अशुद्ध द्रव्यमें विभावपरिणमन होता है। जीव और पुद्गल ये द्रव्य शुद्ध और अशुद्ध दोनों प्रकारकी हैं।

अशुद्ध द्रव्यमें परिणमन वाह्यकारण-कलापोंके निमित्तसे और आभ्यंतर द्रव्यकी शक्तिसे होता है। परंतु शुद्ध द्रव्यमें परिणमन होनेमें वाह्यकारणकी विशेष आवश्यकता नहीं है। प्रतीतिरूप कार्य वाह्यनिमित्तके द्वारा ही मानना पडेगा। जैसे केवलज्ञानमें समस्त परिणमनशील पदार्थोंको ज्ञायकतामें कथंचित् उत्पाद व्ययविशिष्ट पदार्थ कारणभूत है।

आकाशादिक नित्य द्रव्योंमें भी परिणमन होता हैं। परंतु स्वभावरूप ही होता है। यदि उत्पाद और व्ययको स्व-परप्रत्यय माने तो नित्य द्रव्यमें भी उभय रूप कथंचित् उत्पाद और व्यय रूप परिणमन मानना पडेगा। इस प्रकार आकाशादि नित्य द्रव्यमें भी परिणमन होता है। तो द्रव्यको कूटस्थनित्य मानना वस्तुके स्वरूपको नहीं जानना है। कूटस्थ नित्य कोई भी द्रव्य किसी प्रकार किसी अवस्थामें हो नहीं सक्ती। हां अपेक्षासे (द्रव्यार्थिक नयसे) द्रव्यको कथंञ्चित नित्य कह सक्ते हैं। कूटस्थ नित्य तो किसी रूपमें नहीं कह सक्ते क्योंकि पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे सभी द्रव्य समय समय पर परिणमन करती हैं।

द्रव्यका लक्षण ही उत्पाद-व्यय-और ध्रौव्य रूप माना हैं। यदि द्रव्यमेंसे उत्पाद और व्यय नहीं मानकर केवल एक ध्रौव्य

रूप ही मान लिया जाय तो द्रव्यका लक्षण निर्दोष रूपसे सिद्ध नहीं हो सका है। अव्याप्ति अतिव्याप्ति दूषणोंसे ग्रसित हो जायगा। समय समयमें होने वाली घटमें कुशलादि–कपालादि पर्यायें कूटस्थनित्यका अभाव प्रत्यक्ष सिद्ध करती हैं।

खान-पान हलन-चलन संभाषण सचिंतवन गमनागमन आदि समस्त क्रियाओंका लोप जीवको कूटस्थनित्य माननेसे मानना पडेगा क्योंकि कूटस्थनित्य वस्तुमें किसी प्रकारकी क्रिया मानी नहीं जायगी। जो कूटस्थनित्य वस्तुमें क्रिया मानी जाय तो वह कूटस्थनित्य हो नहीं सका। जो वस्तु परिणमनशील है उसीमें क्रियाकारत्व विधि युक्तिपूर्वक सिद्ध होती हैं। परिणमन रहितमें क्रिया मानें तो वह अपरिणमन किस प्रकार कहा जाय।

इस प्रकारकी कल्पनासे न तो शुद्ध जीवका यथार्थ स्वरूप सिद्ध होता है और अशुद्ध जीवको स्वरूप भी सर्वथा सिद्ध होता ही नहीं। क्योंकि अशुद्ध जीव कर्मोदयसे समय समयमें नवीन नवीन पर्याय धारण करता है, जन्म-मरण करता है, बालक वृद्ध होता है। फिर भी प्रत्यक्षमें व्यवहारका सर्वथा अभाव (लोप) कर और प्रत्यक्षमें होनेवाले कार्योंका लोप कर पदार्थोंको कूटस्थ नित्य मानना किसी प्रकार युक्तिसिद्ध नहीं हैं।

जो जीवको कूटस्थनित्य मान लिया तो फिर कोई भी पाप कैसा ही भयंकर क्यों न करे उसका फल जीवको नहीं होगा क्योंकि जीव नित्य है उसमें किसी प्रकारका परिणाम नहीं हो सकता है। पाप और पुण्य-कर्मका लोप करनेके लिये ही जीवको

नित्य माना है क्योंकि नित्य वस्तुका जन्म मरण नहीं हो सकता है और जन्म-मरणके विना परलोक नरक स्वर्ग आदि माने नहीं जा सके। नरक स्वर्ग माने विना कर्म और कर्मफल क्यों माना जायगा? कर्म और कर्मफल नहीं माना जाय तब ही मनमाने पापकर्म अन्याय और भोगविलास-मोज मजा होगी। क्योंकि नित्य वस्तुमें कर्मफल भोगनेकी शक्ति नहीं है।

इस प्रकार धर्म-कर्म पाप-पुण्य और जप दानादिक उत्तम कर्मोंका लोप करनेके लिये वस्तुको कूटस्थनित्य मान लेना सबसे अच्छा उपाय है। न जन्म काडर है और न मरणका ही कुछ भय है। सब प्रकारसे मनमाने कार्य करो नीति और न्यायको भलेही खूटी पर धर दो सदाचारको भले ही मदिरा वनीकी भट्ठीमें भस्म कर दो। चाहे सो करो।

क्षणिक जीव-विचार

कितने ही विचारशील मनुष्य जीवको क्षणिक मानते हैं। जीवको क्षणिक मानना भी युक्ति और आगमसे सर्वथा विरुद्ध है।

जीवका स्वरूप क्षणिक किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता है। बौद्ध आदि कितने ही मतवादी जीवको समय-समयमें नवीन नवीन उत्पन्न हुआ मानते हैं। एक मनुष्य-शरीरमें अनंत जीव क्षण-क्षणमें उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार एक पर्यायमें क्षण-क्षणमें अनंत जीवोंकी उत्पत्ति मानना यह प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाणसे सर्वथा विरुद्ध है।

यदि जीवकी क्षण-क्षणमें नवीन उत्पत्ति मान ली जाय तो प्रत्यभिज्ञानका सर्वथा लोप मानना पडेगा। प्रत्येक मनुष्यको प्रत्यभिज्ञान होता है जिससे संसारके समस्त व्यवहार निरंतर होते हैं वे सर्व नष्ट हो जायंगे। प्रत्यभिज्ञानका स्वरूप शास्त्रोंमें यह बतलाया है कि—पूर्वमें अनुभवित किये हुए पदार्थका स्मरण और वर्तमान समयका जोड़ रूप ज्ञानको प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। एक सेठने एक मनुष्यको एक लाख रुपया उधार (ऋण) दिये तो वे रुपया किससे वसुल किये जाँय ? क्योंकि जिसने रुपया ऋण लिये हैं वह जीव ही नहीं रहा और नवीन जीव आ गया क्योंकि क्षण क्षणमें नवीन जीवकी उत्पत्ति माननेसे लेने वाला नष्ट होगया और दूसरा जीव आ गया इस प्रकार प्रत्यभिज्ञानका अभाव होनेसे सर्व व्यवहार नष्ट हो जायगा।

जीवको क्षणस्थायी मान लेवें तो कर्मफलका मानना सर्वथा सिद्ध नहीं होगा। क्योंकि एक जीवने हिंसा की उस हिंसाका फल उस जीवको इस लोक और परलोकमें कैसे प्राप्त होगा ? क्योंकि हिंसा करनेवाला जीवको क्षणस्थायी माननेसे वह नष्ट होगया तो हिंसाका फल भोगनेवाला कौन होगा ? अन्य जीव भोगेगा ऐसा मानें तो नवीन निरपराधी जीवको फल भोगना पड़ेगा और आपराध करने वाले जीवको अपराधका फल नहीं मिलेगा ? तो यह न्याय-संगत नहीं हो सक्ता है।

जीवको क्षणिक माननेसे खान-पान करनेवाला जीवको खान-पानका स्वाद नहीं हो सक्ता है, क्योंकि खान-पान करनेवाला जीव

नष्ट हो गया और नवीन जीव आस्वाद करनेवाला आ जानेसे स्वाद करना नहीं बनेगा।

जीवको क्षणिक माननेसे गुण-गुणियोंका संबंध नहीं बन सकेगा। गुण-गुणियोंका सबंध नित्य नहीं माननेसे पदार्थकी सत्ता किसी प्रकार भी स्थिर नहीं रह सकी है।

सभी पदार्थ क्षणिक माननेसे आकाशादि पदार्थोंकी नित्यताका अभाव मानना पडेगा। वस्तु क्षणिकरूप माननेसे महासत्ताका अभाव मानना पडेगा और अवांतर सत्ताका भी (गुण गुणियोंका सर्वथा नाश माननेसे) अभाव मानना पडेगा। इस प्रकार वस्तुको क्षणिक माननेसे वस्तुकी स्थिरता किसी प्रकार सिद्ध नहीं हो सकी है। वस्तु अपना आस्तित्व गुण-गुणियोंका नित्य सबंध माननेसे ही हो सकेगा।

इस प्रकार वस्तुको क्षणिक माननेसे कर्म* और कर्मफल सिद्धान्त सर्वथा नहीं होगा। इसलिये क्षणिक पदार्थ मानना यह युक्ति और आगमसे सर्वथा विरुद्ध है और प्रत्यक्ष प्रमाणसे भी विरुद्ध है। क्योंकि एक मनुष्य पचास साठ वर्षपर्यंत अपना जीवन व्यतीत करता है और अपनी दश वर्षकी आयुका सब स्मरण बतलाता है इससे मालुम होता है कि जीव क्षणिक होता तो इस प्रकारका स्मरणज्ञान नहीं होता। इसलिये पदार्थ क्षणिक नहीं है।

---

* बौद्ध मत वाले इसलिये मांसभक्षण करनेमें पाप नहीं मानते हैं इसी प्रकार अन्य पापके करनेकेलिये भी कोई बाध्यता नहीं है।

जीवका अकर्तावाद

कितनेही मतवाले जीवको अकर्त्ता मानते हैं। उनका मानना भी कर्म और कर्म-फलको नहीं माननेके समान है, जीवको अकर्त्ता माननेसे जीवको कर्म और कर्मफलका कर्ता और भोक्ता नहीं होगा, जब जीव कर्मोंका कर्ता ही नहीं है तो जीवके द्वारा होने वाला पाप और मलिनाचरणोंका फल कैसे प्राप्त होगा। अकर्ता माननेसे जप-तप-पूजा आदिका करना निरर्थक होगा।

एक मनुष्य चोरी या अन्याय कर रहा हैं यदि जीवको अकर्ता माना जाय तो चोरी या अन्यायका करनेवाला कौन है? यदि ईश्वरको कर्त्ता माना जाय तो चोरी करनेवाले एक साधारण मनुष्यको ईश्वर माना जाय क्या? यदि ईश्वरने अन्तःकरणमें प्रेरणा की और ईश्वरकी प्रेरणासे एक साधारण मनुष्यने चोरी या अन्याय किया तो उसका फल ईश्वरको होना चाहिये परंतु न्यायालय (कोर्ट) ईश्वरको दंड नहीं देता है किंतु उस व्यक्तिको ही दंड देता है जिसने कि चोरी या अन्याय किया है। इसलिये ईश्वरकी प्रेरणासे अन्याय या चोरी आदि कार्य हुए ऐसा मानना बन नहीं सकेगा। दूसरी बात एक यह भी है कि जीवको अकर्त्ता मानलिया जाय तो वेश्यागमन चोरी अन्याय दुराचार आदि पाप कर्मोंको क्या ईश्वरने कराया? यदि ईश्वर अन्याय चोरी दुराचार करावे तो वह ईश्वर ही क्यों माना जाय? दूसरे प्रत्यक्षमें कार्य तो ईश्वर कर्ता नहीं है। साधारण व्यक्ति ही कर्ता है तो फिर जीवको अकर्ता किस प्रकार माना जाय?

जीवको अकर्त्ता मान लिया जाय तो संसारके समस्त व्यवहार लोप हो जायंगे तथा प्रत्यक्षमें होनेवाले कार्योंका लोप मानना पडेगा।

यदि जीवको अकर्ता माना जाय और उसमें ईश्वरको तटस्थ रखा जाय तो खान पान व्यवहार नहीं हो सकेंगे। तथा कर्म और कर्मफलकी प्राप्ति नहीं हो सकेगी एवं जीवको अकिंचित्कर मानना पडेगा।

जीव प्रत्यक्षमें समस्त कार्य करते दीख रहे हैं जीवको अकर्ता माननेसे जीवका हलन चलन गमनागमन आदि समस्त व्यापार वंद हो जायगे। यह वात सवको प्रत्यक्ष है कि जीव समस्त कार्य करते हैं। ईश्वर कर्ता सिद्ध भी नहीं हो सकता, कारण जगतमें जितने भी कर्ता पाये जाते हैं वे सव इच्छावाले हैं, शरीरवाले हैं, इष्टा-निष्टा वुद्धि रखने वाले हैं परंतु ईश्वरके इच्छा भी नहीं है और इष्टानिष्टा वुद्धि भी नहीं है ऐसी अवस्थामें वीतरागी अशरीरी अमूर्त ईश्वर जगतकी रचना करनेमें सर्वथा असमर्थ है। फिर ईश्वर जगत् वनानेमें उपादान कारण है या निमित्त कारण है इत्यादि विचार करनेसे भी वह जगतकर्ता किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता है।

कितने ही मतवादी जीव-पदार्थ मानते हैं परंतु जीव-द्रव्यको क्रिया रहित मानते हैं। प्रकृति ही सव कुछ क्रिया करती है ऐसा मानते हैं। पुरुष निर्लेप रहता है प्रकृति समस्त कार्य करती है। प्रकृतिमें समस्त ी शक्ति है पुरुष प्रकृतिसे सर्वथा भिन्न

है। पुरुषको आत्मा कहते हैं। प्रकृतिको कर्म या माया कह सक्ते हैं।

पुरुषको गुणोंसे निर्लेप मानना और प्रकृतिको शक्तिशालिनी मानना, बुद्धि आदि गुण विशिष्ट मानना यह सर्वथा प्रमाणसे विरुद्ध है।

यदि पुरुषको गुणोंसे सर्वथा निर्लेप मानलिया जाय तो आत्मा गुण रहित होनेसे शून्य हो जायगा। पुरुष आदि है या प्रकृति ? जो प्रथम पुरुषको मानें तो पीछेसे प्रकृति कहांसे आगई ? और आदिमें पुरुष निर्गुण रहा या सगुण ? जो निर्गुण था तो वह पुरुष क्योंकर हो सक्ता है ? जो पुरुष प्रथमसे ही गुण सहित था तो पीछेसे प्रकृतिने मिल कर क्या काम किया ?

जो प्रकृति और पुरुष एक साथ उत्पन्न हुये तो प्रकृतिसे पुरुष भिन्न है या अभिन्न ? जो प्रकृतिसे पुरुष भिन्न है तो प्रकृतिसे भिन्न पुरुष क्या कार्य करता है ? और पुरुष (आत्मा) गुण रहित प्रकृतिमें भिन्न होकर कैसे मिलगया (संबंधित होगया) जो स्वयं तो बिना कारण बंध नहीं होता है ? जो ईश्वरने पुरुषको प्रकृतिसे मिला दिया तो सगुण प्रकृतिमें निर्गुण पुरुषको ईश्वरने कैसे मिला दिया ?

जो प्रकृतिसे पुरुष अभिन्न है तो फिर प्रकृति और पुरुषमें क्या भेद है। प्रकृति और पुरुष इस प्रकार दो पदार्थ माननेसे क्या लाभ ? एक ही माननेसे कार्य सिद्ध हो सक्ता है।

सांख्यमतवादी पुरुष और प्रकृतिको भिन्न भिन्न पदार्थ

मानते हैं। पुरुष (आत्मा) को सर्वथा निर्गुण मानते हैं। परंतु प्रकृति जड है उसे निष्क्रिय भी मानते हैं ऐसी दशामें वह कुछ भी नहीं कर सक्ती है, और प्रकृतिका संबंध होनेपर पुरुषमें यदि कुछ भी विकार नहीं होता है तो फिर संसार और मुक्त जीवमें भेद ही क्या रहेगा? इसलिये सांख्यमतका निरूपण संगत नहीं है।

कितने ही मतवादी जीवात्मा और परमात्माको एक ही मानते हैं। उनका कहना है कि "एकमेव परंब्रह्म नेह नानास्ति किंचन।" एकही परमात्मा है अन्य दूसरा कोई नहीं है। यह ब्रह्माद्वैतवाद है ब्रह्मको छोडकर और सब कुछ मिथ्या है

यहां पर विचारशील विज्ञपुरुषोंको विचार करना चाहिये कि समस्त संसारमे एकही परमात्मा है अन्य कोई जीवात्मा नहीं है? समस्त जीवोंमें परमात्मा छायारूप रहता है या तत्त्वरूप जो समस्त संसारी जीवोंमें एकही परमात्मा रहता है जैसे एक चंद्रमाकी छाया समस्त पानीके वर्तनमें पडती है तो समस्त पानीके वर्तनोंमें चंद्रमा छायारूपमें दृष्टिगोचर होता है। अथवा एक मनुष्यका चित्र अनेक दर्पणमें प्रतिबिंबित होता है। ऐसे ही एक परमात्मा समस्त संसारी जीवोंमें छाया रूपसे रहता है। तो समस्तसंसारी जीवोंमें एक परमात्माकी छाया माननेसे समस्त जीवोंमें एकरूप क्रिया होगी। समस्त जीवोंमें एकरूप क्रिया माननेसे समस्त व्यवहारका लोप होजायगा। और समस्त प्रकारकी क्रिया एक-रूप माननेसे समस्त जीवोंका खानपान रोग शोक हर्ष विषाद आदि समस्त क्रिया एकसी होना चाहिये, एक रोगीको भूख लगी तो

समस्त जीवोंको भूख लगना चाहिये। इस प्रकार समस्त जीवोंकी एकरूप क्रिया माननेसे समस्त व्यवहार लोप हो जायंगे।

यदि समस्त जीवोंमें परमात्मा तत्त्वरूपसे वास करता है छाया रूप नहीं? तो समस्त जीव ही परमात्मा कहे जायगे। समस्त जीवोंमें अधिकाश जीव चोरी व्यभिचार और अन्याय आदि पाप करते हैं तो वे समस्त पाप परमात्मा कृत माने जायंगे जो परमात्माके लिये दूषणास्पद हैं।

जो समस्त जीवोंमें परमात्मा तत्त्व रूपसे रहता है तो परमात्माको जन्म-मरण आदि संसारकी समस्त उपाधि माननी पड़ेगी क्योंकि समस्त संसारी जीवोंमें जन्म मरण आदि समस्त प्रकारकी उपाधि लग रही हैं और जो समस्त जीवात्मा है वह एक परमात्माका रूप माननेसे परमात्मामें जन्म मरणकी समस्त उपाधि अनिवार्य रूप माननी हो पड़ेगी।

कदाचित् ऐसा माना जाय कि समस्त जीवोंमें एक परमात्मा ही है जीव पदार्थ कोई अन्य नहीं है मायासे भ्रांति रूप ऐसा ज्ञान हो रहा है। परंतु मायासे इस प्रकारके ज्ञानको सत्य मानें या मिथ्या (असत्य)? जो भ्राति रूप ज्ञान (जो मायासे परमात्माका रूप जीवात्मा रूप दीखरहा हैं) सत्य है तो सत्यज्ञानको भ्रांति रूप किस प्रकार कह सके हैं। संशय या अनध्यवसाय रूप ज्ञानमें ही भ्रांति होती है सो सत्यज्ञानको भ्राति रूप मानें तो वह संशयात्मक होनेसे प्रामाणिक रूप नहीं होगा। दूसरे अनेक विरुद्ध कोटिमें रहने वाले अनिश्चयात्मक

ज्ञानको संशयज्ञान कहने सो यहां पर परमात्मा और जीवात्मामें अनिश्चयात्मक ज्ञान नहीं है इसलिये संशय नहीं कह सके हैं ? न अनध्यवसाय ही कह सकेंगे क्योंकि अनध्यवसाय ज्ञानको एक प्रकारसे अज्ञान कहते हैं। जो भ्रांति रूप ज्ञान सत्य प्रमाणित हो रहा है उसको अज्ञान किस प्रकार कहे हैं।

जो संसारी समस्त जीवोंमें मायासे परमात्मा दीख रहा है वह मिथ्या है। तो संसारी जीवोंमें परमात्मा मानना भी मिथ्या ही ठहरा। यदि माया ब्रह्मसे भिन्न है तब तो द्वैत सिद्धि हो जाती है और यदि माया उससे अभिन्न है तो वह मिथ्या नहीं किंतु वास्तविक सिद्ध हो जाती है।

जो "एकमेव परब्रह्म नेह नानास्ति किंचन" ऐसा सिद्धांत युक्ति और प्रमाणसे शून्य होने पर स्वीकार कर लिया जाय तो पाप-पुण्य जप-तप आदि समस्त उत्कृष्ट सदाचरण व्यर्थ होंगे। धर्म सेवन करना भी निष्काम होगा, दीक्षा धारण करना भी निष्फल होगा। क्योंकि समस्त जीव एक परमात्मा है तब दीक्षा धारण करना या जप तप आदि पुण्य कार्य करनेकी क्या आवश्यकता ? तथा मोक्ष और संसारका भेद उठ जायगा। बंध और बंधकारण मोक्ष और मोक्षकारण मानना व्यर्थ हो जायगा। तथा परमात्माको समस्त जीवात्मामें माननेसे परमात्माकी स्थिति ठहर नहीं सकी है इस प्रकार परमात्माको ही जीवात्मा माननेसे अनेक दूषण प्राप्त होंगे ?

एक बात यह भी है कि समस्त जीवात्माओंमें परमात्मा एक

रूपसे रहता है या तारतम्य अवस्थासे ? समस्त जीवात्माओंकी शक्ति गुण प्रदेशप्रचय और द्रव्य एक समान है या न्यूनाधिक है ? समस्त संसारी जीवात्माओंको अपने २ कर्तव्योंका फल प्राप्त है या नहीं ? जो समस्त जीवोंमें परमात्मा एक समान (एक परिमाण-तोल और एक शक्तिकी एक समानतासे) रहता है तो समस्त जीव एक समान होने चाहिये ? यदि तारतम्य अवस्थासे परमात्मा रहता है तो परमात्मामें रागद्वेष मानना पडेगा। जो समस्त जीवात्माकी शक्ति गुण प्रदेशप्रचय और समस्त जीवोंका द्रव्य एक समान है तो जीवात्माओंमें भेदभाव क्यों दृष्टिगोचर हो रहा है। जब सबमें परमात्मा एकसमान और जीवद्रव्य एकसमान हैं तब भेदभाव क्यों ? जो जीवात्मामें एक जीवसे दूसरे जीवकी अपेक्षा शक्ति-गुण-प्रदेश और द्रव्य न्यूनाधिक है तो इसका कारण क्या है ? जो परमात्मा ही इसका कारण मानें तो परमात्मा रागी द्वेषी होगा। जो कर्म इसका कारण मानें तो परमात्मासे कर्म बलवान मानने पड़ेंगे। जो समस्त संसारी जीवोंको अपने अपने कर्तव्यका फल प्राप्त होता है ऐसा मानें तो समस्त संसारी जीवोंमें परमात्मा रहनेसे कर्मोंका फल परमात्माको भोगना पड़ेगा। और जब समस्त जीवोंको अपने कर्तव्योंका फल प्राप्त होता है तो फिर जीवात्मामें परमात्मा माननेकी जरूरत नहीं है। जो जीवोंको अपने २ कर्मोंका फल प्राप्त नहीं होता है ऐसा मान लिया जाय तो चोरी करनेवालेको दंड क्यों दिया जाय ? जो समस्त जीवोंमें एक ही परमात्मा है तो वह दंड परमात्माको मिला ऐसा माना जायगा ?

"एकमेव परंब्रह्म नेह नानास्ति किंचन" इसप्रकारका सिद्धांत किसी प्रकार भी युक्ति और प्रमाणसे सिद्ध नहीं होता है। आगमकी विरोधता प्रत्यक्ष है। तथा कर्म और कर्मका सिद्धांत किसी प्रकार नहीं बनेगा तथा परमात्माको रागी द्वेषी सदोष मानना पडेगा।

कितने ही मतवादी जीवात्मा और परमात्माको पृथक् पृथक् मानते हैं। परन्तु परमात्माको जीवात्माका कर्ता सुख दुःख प्रदान करनेवाला (सृष्टि कर्ता) मानते हैं। परमात्माको वे नित्य निरंजन-व्यापक-निराकार-और सर्वशक्तिमान मानते हैं। और जीवात्माको परमात्माके आधीन अकिंचत्कर मानते हैं।

इस प्रकार माननेमें वस्तुका स्वरूप सत्य और प्रमाणित रूपसे किसी प्रकार सिद्ध नहीं हो सका है। न जीवात्माका ही स्वरूप सिद्ध हो सका है और न परमात्माका ही रूप सिद्ध होता है दोनों के लक्षणमें अनंत दूषण प्राप्त होते हैं। प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण से विरोध होता है। इसका विवेचन एक स्वतंत्र रूपसे स्पष्ट किया जा सक्ता है। परन्तु ऐसा करनेमें अप्रसगता होती है इसलिये संक्षेपमें यहाँ पर दिग्दर्शन कराते हैं।

ईश्वर व्यापक होकर समस्त सृष्टिको बनाता है ऐसा माना जाय तो व्यापक वस्तुमें किसी प्रकारकी क्रिया नहीं हो सक्ती है क्योंकि एक देशसे देशांतर होना ही क्रियाका अर्थ है। व्यापक वस्तुमें देशसे देशाँतर होनेकी शक्ति नहीं है। जो व्यापक वस्तुमें देशसे देशांतर होनेकी शक्ति मानी जाय ? तो वह व्यापक नहीं

हो सक्ता ? क्योंकि व्यापक सर्व क्षेत्रमें व्याप्त है उससे कोई भी क्षेत्र अवशेष नहीं रहता है जिसमें क्रिया हो सके । क्रियाके विना सृष्टिकी रचना नहीं हो सक्ती है । जो ईश्वरको व्यापक नहीं माना जाय तो सिद्धांतका घात होता है स्व वचन विरोध होता है । और ईश्वरको व्यापक माने विना सर्वक्षेत्रकी क्रियायें नहीं हो सकेंगी ।

जो ईश्वरको नित्य माना जाय तो नित्य वस्तुमें क्रियाका अभाव होनेसे आकाशके समान ईश्वरको निष्क्रिय मानना पडेगा। निष्क्रिय वस्तुसे सृष्टि उत्पन्न नहीं हो सक्ती है ।

जो ईश्वरको अनित्य मान लिया जाय तो सर्वकालकी सर्व क्रिया सर्व कालमें नहीं हो सकेगी ?

जो ईश्वरको निरंजन [शरीर रहित] माना जाय तो शरीर रहित ईश्वरसे शरीरसहित कार्य उत्पन्न नहीं हो सकेंगे । क्योंकि अमूर्तीक पदार्थसे मूर्तीक पदार्थ कभी भी उत्पन्न नहीं हो सक्ता है । जो अमूर्तीकसे मूर्तीक पदार्थ उत्पन्न हुआ मान लिया जाय तो अमूर्तिक आकाशसे मूर्तीक पदार्थ उत्पन्न होने लगेंगे । असत्-से सत् पदार्थकी उत्पति हो जायगी ।

जो ईश्वरको शरीर सहित मान लिया जाय तो ईश्वर सबको दीखना चाहिये और उसको निरंजन नहीं कहना चाहिये ?

जो ईश्वरको निराकार मान लिया जाय तो निराकारसे साकार वस्तु उत्पन्न नहीं हो सक्ती है ? और ईश्वरको साकार माननेसे प्रत्यक्ष दर्शन ईश्वरका होना चाहिये ।

जो ईश्वरको सर्वशक्ति मान लिया जाय तो सर्वजीवोंको सुखी

धन सपन्न—नीरोग—एक समान सुन्दर बनाना चाहिये परन्तु एक जीव रोगी-एक जीव दरिद्र-एक जीव विद्वान्—एक जीव सुखी, एक समृद्धिशाली-एक हाथी और एक मनुष्य इस प्रकार जीव क्यों उत्पन्न किये ? जो ऐसा कहा जाय कि ईश्वरने एकसमान ही सब जीव निर्मापित किये परन्तु अपने अपने कार्योंसे ऐसे विभिन्न रूप हो गये तो कर्म बलवान हुआ और ईश्वरको सर्वशक्तिमान मानना नहीं हो सकेगा। जो ईश्वरको सर्वशक्तिमान न माने तो एक परमात्मासे समस्त सृष्टि नहीं हो सकी ?

यदि ईश्वर सर्व-शक्तिमान है तो वेश्या चोर क्यों बनाये। जिससे जनताको पापाचरण करना पड़े ?

सृष्टि बनानेके प्रथम संसारमें कुछ पदार्थ थे या नहीं जो पदार्थ थे तो ईश्वरने क्या बनाया ? जो पदार्थ नहीं थे तो बिना पदार्थोंके सृष्टि कैसे बनाई ? आकाश-परमाणु आदि पदार्थ सृष्टिके प्रथम माननेसे सर्वशक्तिमानका लोप होता है।

सृष्टिके प्रथम ईश्वर था या नहीं ? जो था ईश्वरको किसने बनाया ? जो स्वयं मानें तो समस्त सृष्टिको स्वयं माननेमें क्या हानि ? जो ईश्वरको किसी दूसरेने बनाया तो उसको किसने बनाया इस प्रकार अनवस्था दूषण प्राप्त होता है।

ईश्वरने सृष्टि क्यों बनाई ? लीलासे ? जो लीलासे सृष्टि बनाई मानी जाय तो लीला तो अज्ञानी प्राणियोंमें होती है और लीला करनेका कारण ही क्या ? जो इच्छा मानें ? ईश्वरको सृष्टि करनेकी इच्छा हुई तो इच्छा राग-द्वेषके बिना नहीं हो सकी है। ईश्वरको रागी द्वेषी माननेसे अनेक दूषण आ धमकेंगे।

कर्मोंके फलसे इन्द्रिय शरीर आयु और श्वासोश्वास कार्य होते हैं, कर्मोंके फलसे ही क्रोध—मान—माया—लोभ होते हैं कर्मोंके फलसे ही आहार भय मैथुन और परिग्रह संज्ञा प्राप्त होती है। कर्मोंके प्रतिफलसे गृह—पुत्र—धन-संपत्तिका समागम होता है कर्मोंके फलसे ही स्वर्ग नरक आदि कुगति सुगति प्राप्त होती है। कर्मोंके फलसे ही जीवोंको संसारका सुख दुःख प्राप्त होता है।

कर्मोंके फलसे ही शरीरकी रचना होती है। ऊंट, हाथी, घोड़ा, बकरी, सिंह, सर्प, वृक्ष, मनुष्य आदि पर्याय प्राप्त होती है। कर्मोंसे ही भंगी चमार खटीक, ढेड, आदि नीच जातिमें जीव उत्पन्न होता है। कर्मोंके फलसे ही क्षत्रिय ब्राह्मण वैश्य आदि उत्तम वर्ण और जातिमें उत्पन्न होते हैं। जिसमें श्री जिनेन्द्र-की दीक्षा प्राप्त हो सकी है।

कर्मोंके फलसे ही रोगी, शोकी, पीडित, संक्लेशी, दरिद्र, पंगु, काणा, अन्धा, वधिर, कुवडा, कोढी, गलित्त शरीर, आदि उपाधिको प्राप्त होता है। कर्मोंके फलसे सुन्दर—स्वरूपवान, नय-नोंको प्रिय होता है। सुन्दर वचनोंका प्रतिपादक होता है।

कर्मोंके फलसेही स्त्री होता है पुरुष होता है नपुंसक होता है। कर्मोंके फलसे ही शतवर्षजीवी होता है और कर्मोंके फलसे ही स्वल्पायुवाला होता है—एक श्वासोश्वासमें १८ वार जन्म-मरण ग्रहण करनेवाला होता है।

कर्मोंके फलसे राजा होता है, श्रीमान् होता है, बुद्धिशाली होता है, लोकपूज्य होता है, कीर्तिमान होता है, देव होता है, इन्द्र

होता है, विद्याधर होता है, चक्रवर्ती, तीर्थंकर, आदि उत्तम पदको प्राप्त होता है। कर्मोंके फलसे ही पशु, पक्षी, जलचर थलचर होता है, एकेन्द्रिय होता है, द्वीन्द्रिय होता है तीन इन्द्रिय होता है चार इन्द्रिय होता है, पचेन्द्रिय होता है। कभी कभी इन्द्रियोंकी पुर्णता प्राप्त नहीं होती है। गर्भमें कभी कभी मरण होता है।

इस प्रकार कर्मोंसे जीवोंको अनेक प्रकारकी उपाधि प्राप्त होती है। जीवोंके भेद भी कर्मोंकी अपेक्षासे हैं। त्रस स्थावर भेदसे जीवोंके दो भेद हैं, चारगतिकी अपेक्षा जीवोंके चार भेद हैं—नरकजीव, तिर्यंचजीव, मनुष्यजीव, देवजीव। इन्द्रियके भेदसे जीवोंके पाच भेद हैं। त्रस और पाच स्थावर भेदसे जीवके छह भेद हैं। पृथ्वीकाय, अपकाय, तेजकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय दो इन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय, पंचेन्द्रिय इसप्रकार जीवके नव भेद हैं। स्थूलवनस्पति, सूक्ष्मवनस्पतिकाय, सूक्ष्मपृथ्वीकाय, बादरपृथ्वीकाय, सूक्ष्मअपकाय, बादरअपकाय, सूक्ष्मतेजकाय, बादर तेजकाय, सूक्ष्मवायुकाय, बादरवायुकाय, विकलत्रय, संज्ञी पंचेन्द्रिय, असंज्ञी पचेन्द्रियजीव इसकार तेरह जीवके भेद हैं। चौदह जीव समासके भेदसे जीवोंके चौदह भेद हैं।

वनस्पतिकायके साधारण और प्रत्येक ऐसे दो भेद हैं। साधारण जीव दो प्रकारसे होते हैं। एक जीवके शरीरमें अनेक जीवोंका आहार, जन्म-मरण आदि क्रिया एक साथ हो तो उसको साधारण जीव कहते हैं। वनस्पतिकायमें निगोदराशि रहती है, एक निगोदिया जीवके शरीरमें सिद्धराशिसे अनंतवें भाग और

अभव्यसे अनंतगुणे जीव रहते हैं। निगोदशरीर साधारण वनस्पति में माना गया है। एकतो साधारण वनस्पति वह जो प्रवाल, अंडर आदिके स्वरूपमें है। जिसको तोडनेपर समान भंग हो तो वहां वहां तक वह वनस्पति साधारण है फिर वही प्रत्येक रूप हो जाती है। अथवा पत्ता (पत्र) आदिमें जब तक रेखा या नसकी उत्पत्ति स्पष्टरूपसे नहीं है तब तक वह साधारण है।

दशकंदमें सदैव साधारणही संज्ञा है वह प्रत्येक किसी अवस्थामें नहीं होता है इसीलिये कंदको खाना या गर्मकर सेवन करना भी सर्वथा विरुद्ध है।

जिस प्रकार अन्य प्रत्येक वनस्पति प्रासुक करने पर सेवनीय हो जाती है उस प्रकार साधारण वनस्पति शुद्ध नहीं होती है इस लिये पकाकर या सुखा (शुष्क) कर छेदन भेदनकरके भी कंदका सेवन नहीं करना चाहिये। ऐसे नहीं सेवन करने योग्य कंद आलु अरई गाजर मूली आदि हैं।

समस्तजीवोंके पर्याप्त और अपर्याप्त ऐसे दो भेद हैं। एकेन्द्रिय बादर, एकेन्द्रिय सूक्ष्म, दो इन्द्रिय, तीनइन्द्रिय चार इंद्रिय, ५ असंज्ञी पचेन्द्रिय, संज्ञीपचेन्द्रिय ये सातों पर्याप्त और अपर्याप्तके भेदसे जीवोंके चौदह भेद होते हैं।

मार्गणा (गति, इंद्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम दर्शन, लेश्या, सम्यक, भव्यत्व, संज्ञी, आहार) इस प्रकार मार्गणाके भेदसे जीवोंके चौदह भेद होते हैं।

इसी प्रकार गुणस्थानके भेदसे भी जीवोंके १४ भेद हैं। अनं-

तानंत जीवराशिका संक्षेपसे अंतर्भाव इस रूपमें किया है। अर्थात् अंतरंगभावोंकी अपेक्षा जीवके गुणस्थान कहे जाते हैं और कर्मोदयसे होनेवाली जीवकी शरीरादि विशिष्ट स्थूल अवस्थाको मार्गणा कहते हैं, संसारी सबजीव इन्हींमें गर्भित होते हैं। विशेष–कुल और जातिके भेदोंसे जीवके असंख्य भेद होते हैं।

जीवोंके उत्पत्ति स्थान सचित्त १, अचित्त २, सचित्ताचित्त ३, शीत ४, उष्ण ५, शीतोष्ण ६, संवृत्त ७, विवृत्त ८, सवृत्तविवृत ९ इसप्रकार नव भेद हैं। परन्तु उत्तर भेद असंख्य हैं।

जीवके जन्म, संमूर्छन, गर्भ, उत्पाद इसप्रकार तीन प्रकार हैं। संमूर्छन जन्म वह है कि माता पिताके रजवीर्य विना निमित्त संयोग मिलने पर जीवोंका जन्म हो जाना हो जैसे केंचुआ बिच्छू ज्यूं खटमल, वृक्ष आदि जीवोंका जन्म बाह्य साधनोंके निमित्तसे होता है।

जो माता पिताके रजवीर्यसे जन्म हो वह गर्भ कहलाता है जैसे पुरुष स्त्री घोड़ा गौ बन्दर आदि जीवोंका जन्म गर्भ जन्म है।

गर्भके साधारण तीन भेद हैं। जरायुज, अंडज, पोत, जो जीव अपने जन्मके समय अपने शरीरके साथ एक थैली (कोथरी) सहित जन्म ग्रहण करे उसको जरायुज जन्म कहते हैं। जैसे मनुष्यका जन्म गौका जन्म यह जन्म, जरायुज हैं। जो अंडामें उत्पन्न हो वह अंडज जन्म है जैसे कबूतरका जन्म, मयूरका जन्म।

जो जन्म होते ही दौडनेकी या भागनेकी क्रिया कर सके उसे पोत जन्म कहते हैं।

जीवभेद

पृथ्वीकायके भेद—सूक्ष्म पृथ्वीकाय, बादर पृथ्वीकाय। सूक्ष्म पृथ्वीकायके भेद-पर्याप्तक, अपर्याप्तक, लब्धअपर्याप्तक।

बादर पृथ्वीकायके भेद-पर्याप्तक, अपर्याप्तक, लब्ध अपर्याप्तक इस प्रकार पृथ्वीकायके जीवोंके सामान्य ६ भेद हैं।

इसी प्रकार अपकाय, तेजकाय, वायुकायके जीवोंके छह छह भेद होते हैं।

अपकायके भेद—सूक्ष्म अपकाय, बादर अपकाय, सूक्ष्म और बादर अपकायके प्रत्येक भेदके पर्याप्तक १, अपर्याप्तक २, लब्ध अपर्याप्तक, इस प्रकार छह भेद हैं। तेजकायके सूक्ष्म बादर और दोनोंके पर्याप्तक अपर्याप्तक लब्धअपर्याप्तक इसप्रकार छह भेद हैं।

वायुकायके भेद—सूक्ष्म वायुकाय, बादर वायुकाय। सूक्ष्म-वायुके भेद-पर्याप्तक, अपर्याप्तक, लब्ध अपर्याप्तक बादर वायुकायके भेद-पर्याप्तक, अपर्याप्तक, लब्ध अपर्याप्तक, इस प्रकार पृथ्वी-काय अपकाय तेजकाय और वायुकायके भेद २४ हैं।

वनस्पतिकायके भेद—साधारण वनस्पति, प्रत्येक वनस्पति। साधारण वनस्पतिके दो भेद—नित्य निगोद, इतर निगोद। साधारण सूक्ष्म नित्यनिगोद वनस्पतिकायके भेद—पर्याप्तक, अपर्याप्तक, लब्ध अपर्याप्तक। सूक्ष्म साधारण इतर वनस्पतिकाय-के भेद-पर्याप्तक, अपर्याप्तक, लब्धअपर्याप्तक। इस प्रकार

साधारण सूक्ष्म वनस्पतिकायके ६ भेद हैं। बादर साधारण नित्य-निगोदके भेद—पर्याप्तक, अपर्याप्तक, लब्ध अ०। बादर साधारण इतर निगोदके भेद—पर्याप्तक, अपर्याप्तक, लब्ध अ०।

इस प्रकार साधारण वनस्पतिकायके १२ भेद हैं। प्रत्येक वनस्पतिकायके भेद-प्रतिष्ठित अप्रतिष्ठित दोनोंके (प्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित) पर्या० अपर्या० ल० ६ भेद इसप्रकार वनस्पतिकायके ४२ भेद हैं।

नारकी जीवोंके भेद-पर्याप्तक, अपर्याप्तक। देवके भेद—पर्याप्तक १ अपर्याप्तक २। पंचेन्द्रिय तिर्यंचभेद-जलचर नभचर तीनोंके (गभज ? संमूर्च्छन) दो भेद।

सबके पर्या०, अपर्याप्तक, लब्ध अ० इस प्रकार असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवोंके भद १२।

भोगभूमि तिर्यंचभेद—जलचर १ स्थलचर २ दोनोंके (भोगभूमि जलचर और स्थलचर) के प० अ० ल० ६। दो इन्द्रिय जीवोंके भेद-पर्याप्तक अपर्याप्तक २, लब्ध अ० ३। तीन इन्द्रिय जीवोंके भेद—पर्याप्तक-अपर्याप्तक ल०। चार इन्द्रिय जीवोंके भेद-पर्याप्तक-अपर्याप्तक ल०। मनुष्यके भेद—भोगभूमि पर्याप्तक-अपर्याप्तक। कुभोगभूमि—पर्याप्तक अपर्याप्तक। म्लेक्षखंड—पर्याप्तक अपर्याप्तक। आर्यखंड—पर्याप्तक अपर्याप्तक।

जातिकी अपेक्षा भेद—

पृथ्वीकाय ७ लाख, ७ लाख, तेजकाय ७ ला०, वायुकाय ७ ला०, नित्य निगोद ७ लाख, इतरनिगोद ७ लाख,

प्रत्येक वनस्पति १० लाख, दो इन्द्रिय २ ला०, तीन इन्द्रिय २ ला०, चार इन्द्रिय २ ला०, पंचेन्द्रिय पशु ४ ला०; मनुष्य १४ लाख, नरक ४ ला०; देव ४ लाख, इस प्रकार ८४ लाख भेद हैं।

कुलकी अपेक्षा जीवोंके भेद—

पृथ्वीकाय	२२ लाख कुल कोडि	
जलकाय	७	"
वायुकाय	७	"
तेजकाय	३	"
वनस्पतिकाय	२८	"
दो इन्द्रिय	७	"
तीन इन्द्रिय	८	"
चार इन्द्रिय	९	"
पंचेन्द्रिय जलचर	१२	"
पंचेन्द्रिय नभचर	१२	"
पंचेन्द्रि स्थलचर	१०	"
सर्प	९	"
मनुष्य	१४	"
नारक	२५	"
देव	२५	"
	१९९ लाख कुल कोडि	

जीवके परिणामोंकी पहिचान गुणस्थानोंकी परिपाटीसे जानी जाती है। जीवोंके परिणाम ही गुणस्थान हैं। गुणस्थानके

चौदह भेद हैं। इसलिये अनंतानंत समस्त संसारी जीवोंका अंतर्भाव चौदह गुणस्थानोंमें होजाता है। गुणस्थानोंका संक्षिप्त स्वरूप यह है (१) मिथ्यात्वगुणस्थान, २ सासादनगुणस्थान ३ मिश्रगुणस्थान, ४ अविरत सम्यक्त्वगुणस्थान, ५ देशविरत ६ प्रमत्तगुणस्थान ७ अप्रमत्त गुणस्थान ८ अपूर्वकरण ९ अनिवृत-करण १० सूक्ष्मसांपराय ११ उपशांतमोह १२ क्षीणमोह १३ स-योग केवली १४ अयोगकेवली।

१ मिथ्यात्वगुणस्थान—दर्शनमोहके उदयसे जिसका अतत्व-श्रद्धान हो या विपरीत श्रद्धान हो उसको मिथ्यात्व गुणस्थान कहते हैं।

२ सासादनगुणस्थान—अनंतानुबंधी कषायमेंसे (क्रोध मान माया व लोभ) किसी कषायके उदयसे सम्यक्त्वका तो नाश कर दिया हो परन्तु मिथ्यात्वगुणस्थानतक नहीं पहुंचा हो ऐसे समय जो जीवोंके भाव होते हैं उसको सासादनगुणस्थान कहते हैं।

३ मिश्रगुणस्थान—सम्यत्व मिथ्यात्व नामक दर्शनमोहनी कर्मकी प्रकृतिके उदयसे जीवोंके परिणाम न तो तत्व-श्रद्धान रूप हों और न अतत्वश्रद्धान रूप हों किंतु दही गुणके समान मिश्रित हों (मिथ्याभावरूप यह गुणस्थान होता है) उसको मिश्रगुणस्थान कहते हैं।

४ अविरतगुणस्थान—अनंतानुबंधी कषाय-क्रोध-मान माया लोभ और मिथ्यात्व दर्शन-मोहनीकर्मको-मिथ्यात्व सम्यग्मिथ्यात्व तथा सम्यक्त्व प्रकृतिके क्षय क्षयोपशम और उपशम होनेसे जो

परिणामोंमें विशुद्धता होती है उसे अविरतगुणस्थान कहते हैं। इस चतुर्थ गुणस्थानमें जीवके सम्यग्दर्शन प्रगट हो जाता है और उस स्वाभाविक परिणामके प्रगट होनेसे जीव तत्वोंका यथार्थ श्रद्धान करता है।

५ देशविरत गुणस्थान—अप्रत्याख्यान कषायके उपशमसे गृहस्थोंके योग्य चारित्र धारणकर परिणामोंकी विशेष विशुद्धि होना सो देशविरतगुणस्थान है।

६ प्रमत्तगुणस्थान — प्रत्याख्यान कषायके उपशमसे मुनिव्रतके चारित्रको (अठाईस मूलगुणोंको) धारण कर परिणामोंकी अत्यंत विशुद्धता होना सो प्रमत्त गुणस्थान है।

७ अप्रमत्तगुणस्थान—संज्वलनकषायके अतिशय मंदोदयसे चारित्र समिति और सामायिकादि कर्मोंमें प्रमाद नहीं लगाना और उससे परिणामोंकी विशुद्धि करना सो अप्रमत्तगुणस्थान है।

८ अपूर्वकरण—यहांसे सम्यक्त और चारित्रके भेदसे ग्यारहवें गुणस्थानपर्यंत दो विभाग होते हैं क्षपकश्रेणी—उपशमश्रेणी २। जिस जीवको क्षायिक सम्यग्दर्शन प्राप्त है। जिसके परिणाम अतिशय विशुद्धताको वृद्धिगत होरहे हैं जिसको उत्तम संहनन प्राप्त है जो शुक्लध्यानके प्रथम भेदको लेकर अपने परिणामोंमें विशुद्धताकी प्रकर्षता समय समय बढ़ा रहा है। जो सर्वघाती कर्म मोहनीकर्म की सत्ताको क्षीणकरनेकी शक्ति और अप्रमित वीर्य प्रकट करने की योग्यता जिसमें प्रकट होगई हो ऐसे परिणामोंकी विशुद्धि को क्षयकश्रेणि वाला अपूर्वकरण गुणस्थान कहते हैं, और चाहे

क्षायिक सम्यग्दृष्टि हो चाहे द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि हो, जो कर्मों को अपनी विशुद्धिसे उपशमना जाता है किंतु उनका क्षय करनेमें असमर्थ है उसे उपशम श्रेणीवाला अपूर्वकरणगुणस्थान कहते हैं। इस गुणस्थानमें जीव तीनकरण (परिणाम विशुद्धि) धारण करता है जिससे आत्मीयविशेष विशुद्धिसे स्थितिखंडन अनुभागखंडन आदि करनेमें समर्थ होता है।

६ अनिवृत्तकरण—गुणस्थानमें एक ऐसा विशुद्धभाव उत्पन्न होजाता है जो उस गुणस्थानवर्ती सब जीवोंके समान होता है इस नौवें गुणस्थानमें भी उपशम या क्षपण किया जाता है।

१०—दशवें गुणस्थानमें केवल सूक्ष्मलोभका उदयमात्र रहजाता है इसलिये उसका नाम सूक्ष्म लोभ कहा गया है। इसमें उपशम भी करता है यदि क्षपकश्रेणी माढे तो सर्वमोहनीयका इसी गुणस्थानके अंतमें क्षय करदेता है।

११ उपशांतमोह—यह गुणस्थान उपशमश्रेणी माढ़नेवालेकी अपेक्षासे कहा गया है। इस गुणस्थानमें चारित्रमोहकी जागृति होजाती है। इसलिये यहांसे जीव परिणामोंकी अपेक्षा गिर जाता है और क्रम २ से दशवें नौवें आदि गुणस्थानोंको प्राप्त होजाता है यदि मरण होजाय तो एकदम चौथे गुणस्थानमें पहुंच जाता है।

१२ क्षीणमोह—इसगुणस्थानमें मोहका सर्वथा विनाश होजानेके पश्चात ज्ञानावर्ण आदि प्रकृतियोंका विनाश होता है। ज्ञानावरणकी पांच, अंतरायकी पांच और दर्शनावरणकी चार ऐसे १४ प्रकृतियोंका सर्वथा नाश इसी गुणस्थानमें जीव करदेता है।

१३ सयोगकेवली—चार अनंत चतुष्टयको प्राप्त समोसरण लक्ष्मी विभूषित केवलज्ञानमंडित आत्माको सयोगकेवली कहते हैं इस तेरहवें गुणस्थानमें जीव चार घातिया कर्मोंके नष्ट होनेसे परम वीतराग, सर्वज्ञ अर्हंतप्रभु बन जाता है। यही जीवन्मुक्त परमात्मा कहलाता है।

१४ अयोगकेवली—समस्त कर्मोंका नाश करना सो अयोगकेवली गुणस्थान है। इस चौदहवें गुणस्थानमें समस्त अघातिया कर्म और शरीरका भी नाश आत्मा कर देता है। यह कार्य शुक्लध्यानके अंतिम पायेसे (व्युपरतक्रिया निवृति ध्यानसे) होता है। इस गुणस्थानके समाप्त होने पर आत्मा सिद्धालयमें विराजमान हो जाता है फिर वहासे लौटकर कभी भी संसारमें नहीं आता है। उसी सिद्धावस्थाको जीवकी मोक्ष; अमूर्तस्वभाव आदि कहते हैं।

कर्मोंमें मोहनी कर्मकी प्रधानता

गुणस्थानोंके स्वरूपसे मालूम होता है कि समस्त कर्मोंमें मोहनी कर्म प्रधान है उसका कारण यह हैं कि—

घातिया समस्त कर्म अपना रस मोहनी कर्मके उदयमें विपरीत अनुभव कराते हैं जैसे ज्ञानावरणीके क्षयोपशमसे ज्ञान होता है। यदि उस ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमके साथ २ मोहनीकर्मका उदय है तो वह ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे होनेवाला ज्ञान—अज्ञान रूप, भ्रांति रूप, विपरीत रूप और, अन्यथा रूप होगा। यदि ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमके साथ मोहनी कर्मका

क्षयोपशम है तो वही ज्ञान सम्यग् तत्वज्ञान करायेगा। इसीलिये मोहनीय कर्म अनन्त संसारका कारण है।

मोहनी कर्मके उदयमें ही आत्मवीर्य प्रकट नहीं होता है। कर्मबंधमें विशेषता इसलिये निरंतर बनी रहती है। स्वघातसंबंधी हिंसा मोहनीयकर्मके उदयसे जीवोंको होती ही रहती है और परघात संबंधी हिंसा भी मोहनीयकर्मके उदयमें तीव्रतर रहती है।

इसीलिये जिन जीवोंके मोहनीकर्मका उदय है उनके चारित्र हिंसा रूप संसारको बढ़ानेवाला ही होता है। किसी प्रकार योग (दीक्षा) धारण करली जाय तो भी उस दीक्षाका फल यथेष्ट प्राप्त नहीं होता है।

मोहनीकर्मके उदयमें इस प्रकार सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों ही गुण प्रकट नहीं होते हैं इसलिये मोहनी कर्म बलवान है।

कर्म अपना प्रभाव जीवोंपर पूर्णरूपसे प्रकट करते हैं जीवका स्वरूप कर्मोंके उदयसे स्पष्ट रूपसे उद्भासित नहीं होता है। कोई भी जीव अपनी स्वतंत्रताको नष्ट नहीं करना चाहता है परंतु कर्मोंके उदयसे जीवोंकी स्वतन्त्रता नष्ट हो गई है।

जीव संसारचक्रमें कर्मोंके निमित्तसेही घूम रहे हैं। निरंतर जन्म मरणके दुःखोंको कर्मके निमित्तसे भोगते हैं कर्मोंकी सत्ता, जब तक जीवों पर है तब तक जीवोंकी स्वतन्त्रता कभी भी प्राप्त नहीं हो सकी है इसलिये स्वतंत्रता प्राप्त करनेके लिये कर्मोंका स्वरूप जान लेना और उन्हें दूर करना परमावश्यक है।

जीवोंके प्राचीन बधे हुए (प्राक्बद्ध) कर्मोंके निमित्तसे जीवोंके भावोंमें विलक्षण परिणमन होता है। जिससे जीवोंकी नवीन २ इच्छायें प्रकट होती रहती हैं उन इच्छाओंकी सिद्धि जीव अपने मन वचन कायके द्वारा करता है इसलिये मन वचन कायके व्यापारसे आत्माके प्रदेशोंमें भी सकंप अवस्था होती है। जिस समय आत्माके प्रदेशोंमें भी सकंप अवस्था होती है। जिस उसी समय संसारमें सवत्र भरे कर्मवर्गणाओंको और विस्रसो-पचयको जीव चारों तरफसे अपनी तरफ खींच लेता है बस इसी निमित्तसे कर्मोंका संबन्ध आत्माके साथ हो जाता है।

कभी कभी नवीन निमित्त कारणोंसे जीवोंके भावोंमें परिण-मन होता है। उस परिणमनमें जीवोंका अज्ञान भाव-(मिथ्यात्व) यदि विशेष सहायक हो—अर्थात् मिथ्यात्वका रस विशेषरूपसे हो तो जीव कर्मोंको सुदृढ बांधता है—कषायोंके निमित्तसे भी जीवोंके भावोंमे विशेष आकुलता होती हैं। परन्तु सबसे अधिक [illegible] मिथ्यात्वके निमित्तसे होती हैं। कषायोंमें मिथ्यात्वका योग हो तो तीव्र रस प्रदान करनेवाले पुद्गल परमाणुओंका बन्ध होता है।

संसारको बढानेवाले पुद्गलोंका संबंध जीव को मिथ्यात्वके निमित्तसे ही होता है। जीव अपनी इच्छाको सिद्ध करनेके लिये मन वचन कायके द्वारा व्यापार करता है वह व्यापार शुभाशुभ दोनों ही [illegible] होता है। परन्तु मोहनीयके निमित्तसे प्रायः अ[illegible] व्यापार होता है। हिंसा—झूठ—चोरी—कुशील—

परिणामोंमें विशेष अज्ञान ही होता है जिससे तीव्रतर कषायोंकी परणति विशेषरूपसे जागृत हो। नित्यनिगोदिया लब्ध अपर्याप्तक जीवके बाह्य कारण ऐसे नहीं हैं कि जिससे वह एक श्वासोश्वासमें अठारह वार जन्ममरणको ग्रहण करे परन्तु निगोदिया जीवके मिथ्यात्वभावसे ऐसा घोर अज्ञानभाव होता है कि उसके कृष्णलेश्या और कषायभावोंकी सातिशय तीव्रता परिणामोंमें निरंतर बनी ही रहती है। जिसके फलसे वह एक श्वासोश्वासमें अठारह वार जन्म-मरण ग्रहण करता है।

तदुल मत्सकी बाह्य चेष्टा हिंसादि रूप विशेष नहीं होती है क्योंकि उसके शरीरकी अवगाहना सूक्ष्म है जिससे वह हिंसादिक अशुभ व्यापार नहीं कर सक्ता है तो भी मिथ्यात्वादिक कषाय भावोंसे उसके भावोंकी चेष्टा मलिन—हिंसादिरूप—अज्ञानरूप—कषायरूप—आर्त्तरौद्र रूप होनेसे अनंत संसारका बंध करता है।

जीवोंको सबसे प्रथम अपने भावोंकी बहुत ही संभाल रखनी चाहिये—मिथ्यात्वादिक दुष्ट भावोंका गुरु संगतिसे परित्याग करना चाहिये। गुरु विना भावोंकी शुद्धि करनेवाला और मिथ्यात्वका परित्याग करानेवाला अन्य कोई नहीं है।

मिथ्यात्वका परित्याग किये विना कितने ही शुभ कार्य किये जायं भावोंको विशुद्ध करनेके लिये कितना ही अनुष्ठान जप तप—ध्यान संयम आदि क्रिया की जाय तो भी वह संसारको बढानेवाली ही होती है। मिथ्यात्वभावोंसे आश्रव ही होता है संवर निर्जरा नहीं होती है। इसलिये सद्गुरुके समीप अपने भावोंको

विशुद्ध बनानेका प्रयत्न करना चाहिये। मिथ्यात्वका परित्याग करना चाहिये। अथवा स्वाध्यायके द्वारा शास्त्रगुरुकी पूर्ण श्रद्धा रख कर मिथ्यात्वका त्याग करना चाहिये जब तक शास्त्रकी पूर्ण श्रद्धा नहीं है तब तक मिथ्यात्वका त्याग नहीं है। जो सुधारक प्रथमानुयोग और करणानुयोगको असत्य बतलाते हैं और चरणानुयोगकी आज्ञाकी अवहेलनाकर विधवाविवाहके द्वारा व्यभिचार फैलाते हैं। वे प्रकट तीव्र मिथ्यात्वी हैं जैन कुलमें उत्पन्न होने मात्रसे जैनी नहीं होते हैं।

गुरु सेवा जिनपूजन शास्त्र स्वाध्याय उसी मनुष्यका ठीक हैं। जिसकी जिनागममें पूर्ण श्रद्धा है। जिनागमका श्रद्धान किये विना मिथ्यात्वका परित्याग नहीं होसक्ता है।

भावोंकी विशुद्धता मिथ्यात्वके त्याग विना नहीं होती हैं भावोंकी संभाल रखनेवालोंको मिथ्यात्वका त्याग अवश्य ही करना चाहिये।

राग-द्वेष आत्माके विकृत-भाव हैं जिन राग-द्वेषमें मिथ्यात्व का योग होता है वे ही रागद्वेष क्रोध मान माया लोभ काम मत्सर ईर्षा प्रपंच छलकपट हिंसा झूंठ चोरी कुशील आशा और गृद्ध तृष्णाके कारणभूत होते हैं। इसलिये रागद्वेषको घटानेके लिये सबसे प्रथम मिथ्यात्वका त्याग करना चाहिये।

कर्मका संबंध यद्यपि योगोंसे अधिक है तो भी योग भावोंके बिना अपने अपने कार्य करनेमें असमर्थ हैं। कर्मका विचार करने-वाले ज्ञानी पुरुषोंको मिथ्यात्वादि दुर्भावोंका परित्याग करना चाहिये।

कर्मोंके भेद व स्वरूप

कर्मके मुख्य तो दो भेद हैं। घातिया कर्म और अघातिया कर्म। जो कर्म जीवके स्वरूप (जीवके गुणोंका) घात करै उसको घातिया कर्म कहते हैं। घातिया कर्मके मुख्य तो तीन भेद हैं। ज्ञानावरण १, दर्शनावरण २, और मोहनी। परंतु का अनुजीवीगुण वीर्यको अन्तराय कर्म प्रच्छादित करता है इसलिये अंतरायको भी घातियाकर्म कहते हैं। अवशेष चार वेदनी-आयु-नाम और गोत्रकर्मको अघातिया कर्म कहते हैं। इनसे आत्माका गुण घात नहीं होता है। अरहंत अवस्था इनके सद्भावमें प्रकट होजाती हैं तो भी अमूर्तत्व गुणादिक कितने ही शरीरके अभावसे प्रकट होनेवाले गुण अवश्य ही आच्छादित हो रहे हैं। पूर्ण स्वतंत्रता अघातिया कर्मोंके नाश होनेपरही जीवको प्रकट होती है।

इसलिये घातिया और अघातियाकर्मके भेद अवश्य ही जान लेना चाहिये।

कर्मके स्वरूप जाननेके लिये आचार्योंने कर्मके चार भेद बतलाये हैं। प्रकृति-स्थिति-अनुभाग और प्रदेश ४।

प्रकृतिका अर्थ स्वाभाव होता है। जो जो धर्म प्रतिफलस्वरूप वस्तुमें रहते हैं। वही वस्तुकी प्रकृति कहलाती है। जैसे नीवकी प्रकृति कटुक होती है। नीवका स्वाद कटुक है। इक्षुकी प्रकृति मधुर होती है। इक्षुका स्वाद मधुर होता है। नीबूकी प्रकृति खट्टी है। यद्यपि नीबू-नीव और इक्षु तीनोंमें पानी

एक-स्वरूप ही प्राप्त हुआ है परंतु अपने अपने स्वभावसे अपनी अपनी प्रकृति (धर्म) से कटुक-मधुर-खट्टा स्वरूप प्रकट करता है। इसी प्रकार समस्त कर्मवर्गणाओंकी प्रकृति आठ प्रकारकी होती है। कर्मों की जैसी २ प्रकृति होती है, कर्मोंका फल भी वैसा ही प्रकृतिके अनुसार होता है। उस कर्मका आस्वाद वैसाही प्राप्त होता है। कर्मोंकी प्रकृतिके मूल आठ भेद हैं।

जिस प्रकार अन्नको भक्षण करनेपर अन्नका परिणमन भिन्न २ प्रकारसे होता है। जो अन्न मुखके द्वारा चर्वण होकर खर-भाग-को प्राप्त होकर आमाशयमें जानेके प्रथम ही उसके रस उपरस धातु-उपधातु, रक्त, मांस, मेदा आदि अनेक विभागोंमें विभक्त होता है। उसी प्रकार कार्मणवर्गणाओं जो समय प्रबद्धके द्वारा विस्रसोपचयके द्वारा कर्मरूप प्राप्त होते सबंधित होते हैं। जीवके मन वचन काय द्वारा जो कर्मोंका संबंध होता है। उसका खर-भाग होता है। उसमें खर भागके अनेक विभाग होते हैं।

कर्मवर्गणायें एक प्रकारसे सर्वत्र लोकाकाशमें पूर्णरूपसे खचाखच भरी हुई हैं। पुद्गलद्रव्यकी जो सूक्ष्म सूक्ष्म अवस्था है (जो अत्यंत सूक्ष्म अतीन्द्रिय है) उस अवस्थामें स्थित पुद्गल परमाणुओंके पिंड (विस्रसोपचय) में जीवोंके भावोंसे ऐसी एक विलक्षणशक्ति उत्पन्न होती है कि जिससे उनमें ज्ञानावर-णादि कर्मप्रकृति अवस्था हो जाती है जैसे अन्नके पाककी रस उपरस रूप अवस्था।

पुद्गलोंके प्रचयको जो जीव प्रतिसमय अपने मन वचन

काय द्वारा निरंतर संग्रहीत करता है। उनमें भिन्न भिन्न
की शक्ति आत्मप्रदेशोंके साथ संबंध होनेपरही होने लगती है।

कर्मोंके संबंधका कारण

जीव अनादिकालसे कर्मसे संबंधित है। उन कर्मों के निमित्तसे जीवोंके भावोंमें विलक्षण परिणमन होता है। पूर्व संबद्धित कर्मोंके निमित्तसे रागद्वेषरूप जीवोंकी नवीन नवीन उत्पन्न होती हैं उन इच्छाओंकी पूर्तिके लिये जीव अपने मन वचन काय द्वारा आत्मप्रदेशोंमें परिस्पंद (एक प्रकारकी क्रिया सकंप अवस्था) किया करता है। इस क्रियाके निमित्तसे लोकाकाशमें भरे हुये पुद्गल प्रचयोंको (कार्मेण वर्गणाओंको ग्रहण कर लेता है।

जिस प्रकार लोहा गरम होजानेपर पानीको खींच लेता है उसी प्रकार जीव कर्मोंको अपने मन वचन कायके द्वारा और अपने भावों द्वारा खींच लेता है।

जिस प्रकार सूर्यकी गर्मीको वनस्पति चारोंतरफसे आत्मसात करती है। उसी प्रकार आत्मा भी कषायोंके निमित्तसे विस्रसोपचयको ग्रहण कर लेता है।

प्राचीन कर्मोंके निमित्तसे जिस प्रकार कर्मोंके बंध करनेके भाव होते हैं उसी प्रकार नवीन बाह्य-निमित्तोंसे भी जीवोंके भाव नवीन कर्मके कारण होते हैं।

कर्मके संबंध होनेमें यद्यपि आत्मा ही उपादान है। आत्माके ही भाव कर्मोंके संबंध करानेमें मूल कारण होते हैं। तो भी

आत्मामें और आत्माके भावोंमें ऐसा परिणमन क्यों होता है ? यदि इस प्रश्नपर विचार किया जाय तो आत्माकी वैभाविक शक्ति ही आत्माका परिणमन करानेमें मूल कारणभूत है। जब तक बाह्य-निमित्त (प्राक्बद्ध कर्मोंका संस्कार) आत्माके साथ संबद्धित है तब तक वैभाविक शक्ति आत्माको विभावरूप परिणमन कराता है फिर वही शक्ति स्वभावरूप परिणमन कराती है। परिणमन क्रिया उस शक्तिके द्वारा आत्मामें निरंतर होती रहती हैं। जिस प्रकार आत्मामें ज्ञानगुण है। दर्शन गुण है। सम्यक्त्वगुण है। सुखगुण है। अमूर्तत्वगुण है। अवगाहनत्वगुण है उसी प्रकार आत्मामें परिणमन क्रियाकी मूलउत्पादिका एक शक्ति (गुण) है। उस शक्तिके द्वारा आत्मामें परिणमन क्रिया निरंतर होती रहती है।

यद्यपि अगुरुलघु नामका एक विशेष गुण समस्त द्रव्यमें रहता है और उसका फल द्रव्योंमें उत्पाद व्ययरूप परिणमन कराता है द्रव्यके गुणोंमें उत्पाद व्ययरूप परिणमन कराता है यद्यपि गुणोंका नाश सर्वथा नहीं होता। और नवीन गुण उत्पन्न नहीं होते हैं। गुणोंको छोडकर द्रव्य भी कोई चीज नहीं है तथापि गुणोंके अविभागी प्रतिच्छेदोंमें जल कल्लोलके समान स्वभावरूप परिणमन अगुरुलघु कराता ही है। परंतु क्रियाविभाव परिणमन आत्मामें वैभाविक शक्तिके द्वारा ही होती है। इसीलिये क्रियात्मक परिणमन (विभाव परिणमन) का आत्मा ही उत्पादक है। आत्माकी वैभाविक शक्ति ही आत्माके

भावोंमें रागद्वेष रूप परिणमन कराते हैं उस रागद्वेष युक्त भावोंसे मन वचन कायका व्यापार होता है और उससे नवीन कर्मोंका बंध होता है अथवा आत्माके भावोंमें रागद्वेषके वश नवीन नवीन प्रकारकी इच्छाओंका उद्गम होता है उन इच्छाओंकी पूर्तिके लिये आत्माके प्रदेशोंमें सकंप अवस्था होती है उसके द्वारा भी नवीन कर्मोंका बंध होता है।

रागद्वेष ही आत्माके भावोंको विकारी बनाते हैं। उनसे आत्माके भावोंमें विकार परिणमन क्रोध-मान-माया लोभ रूप परिणमन होता है इन विकारी भावोंसे भी नवीन कर्मबंध होता हैं अथवा विकारी भावोंसे जो कर्म (शरीर और इन्द्रियोंमें) में विकार होता है उसके साथ आत्माके प्रदेशोंमें विकार होता है इस प्रकार प्रदेशोंमें विकार (हलन चलन) होनेसे नवीन कर्म-बंध होता है।

रागादिकोंमें कुछ ज्ञानांश है ऐसा प्रत्यक्ष सबको प्रतिभास होता हैं। इसलिये रागादिकोंको आत्माके धर्म कहे या आत्माको उनका उत्पादक मानें ? या आत्मामें उत्पन्न होते हैं ऐसा मानें ? जो रागादिक भावोंको आत्माका धर्म मानें तो सिद्ध परमात्मामें भी रागादिक धर्म होने चाहिये ? परंतु रागादिक आत्माके धर्म हों तो आत्माकी मुक्त अवस्था कभी नहीं हो सक्ती है और न बद्ध अवस्था ही होसक्ती है किंतु रागादिक भावोंका आत्मा उत्पादक है। आत्मा वैभाविक शक्ति द्वारा रागादिक भावोंका उत्पादक होता है। ऐसा नहीं है कि रागादिक भाव आत्मामें उत्पन्न होते हैं। उत्पादक दृष्टि

की अपेक्षा रागादिक भाव आत्मामें उत्पन्न होते हैं परंतु रागादिक भाव गुणरूप होकर आत्मामें उत्पन्न होते हैं रागादिक आत्माके गुण हैं और आत्माके आधारमें उत्पन्न होते हैं। ऐसा माननेसे बहुत दूषण प्राप्त होते हैं।

जिस प्रकार हलदी और चूनाके संयोग होने पर लालरंग उत्पन्न होता है उसी प्रकार विकारी आत्मामें पुद्गलके संयोगसे आत्माके विभाव स्वरूप रागादिक भाव उत्पन्न हो सके हैं परंतु आत्माके धर्म रागादिक नहीं है और रागादिक धर्म पुद्गलके भी नहीं हैं किंतु दोनोंके संयोगसे आत्माके भावोंमें रागद्वेष ऐसी शक्ति हो गई है वहा-क्रोध-मान-माया-लोभ रूप भेदोंमें बट जाता है।

इस प्रकार नवीन कर्मोंको अनादिकालसे बांधता हुआ यह जीव संसारमें परिभ्रमण करता है कर्मोंमेंही चार भेद हो जाते हैं।
प्रकृतिबंधका विशेष स्वरूप—

ज्ञानावरण १ दर्शनावरण २ वेदनीय ३ मोहनीय ४ आयु ५ नाम ६ गोत्र ७ अंतराय ८ ये आठ प्रकृतिकर्मके भेद हैं इन भेदोंको मूल भेद कहते हैं उत्तरोत्तर भेद बहुत हैं, समस्त कर्मोंके भेद १४८ होते हैं तो भी उनके भेद प्रभेद विशेष किये जांय तो कर्मोंके अनंत भेद होते हैं।

ज्ञानावरणके ५ भेद हैं—मतिज्ञानावरण-श्रुतज्ञानावरण-अवधिज्ञानावरण—मनःपर्ययज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण।

ज्ञानावरण कर्म उसे कहते हैं कि जो कर्म आत्माके ज्ञानको

आवरण करे—आत्मामें ज्ञान उत्पन्न नहीं होने देवे। जिस प्रकार एक मूर्तिपर परदा डाल रखा है उस परदेसे मूर्तिका ज्ञान नहीं होता है। मूर्तिके ज्ञान होनेमें यह परदा बाधक है। यह परदा अनेक प्रकारका है, एक परदा खूब मोटा और जघन है। उसमें छिद्र नहीं है। दूसरा परदा इससे कुछ पतला है तीसरा परदा पतला है, पतले परदेमें तो मूर्तिका उद्भास होता है उससे विशेष मोटे परदेमें मूर्तिका उद्भास स्पष्ट नहीं होता है और मोटे परदेमें तो मूर्तिका ज्ञान सर्वथा होता ही नहीं है। ठीक इसी प्रकार कर्मोंमें (जो पुद्गल कार्मणवर्गणा स्वरूप है) ऐसी विलक्षण शक्तिका प्रकट होना जिससे उनकर्मोंका आत्माके साथ संबंधित होने पर उन कर्मोंके प्रभावसे आत्मामें पदार्थोंका परिज्ञान नहीं होता है और उन कर्मोंके क्षयोपशम या क्षयसे तत्काल ही ज्ञान होता है।

जैन शासन प्रत्येक पदार्थके परिज्ञानमें उस उस कर्मके क्षयोपशमको प्रधान कारण मानता है बिना कर्मोंके क्षयोपशम या क्षयके पदार्थोंका परिज्ञान सर्वथा नहीं होता है। एक मनुष्यके नेत्र बिलकुल निर्विकार हैं उनमें देखनेकी शक्ति है और बाह्य आलोक आदिका निमित्त भी पूर्ण सहायक है परंतु कर्मोंका क्षयोपशम नहीं है तो मनुष्यको पदार्थका परिज्ञान सर्वथा नहीं होगा और कर्मोंका क्षयोपशम होनेपर बाह्य नेत्रादिकोंका संयोग प्राप्त होनेपर पदार्थका परिज्ञान होता है। इसलिये पदार्थोंके परिज्ञानमें तत्-तत् कर्मोंका क्षयोपशम प्रधान कारण है।

जिस प्रकार पदार्थोंके परिज्ञानमें कर्मोंका क्षयोपशम प्रधान कारण माना है उसी प्रकार कर्मोंका आवरण भी पदार्थोंके परिज्ञान नहीं होनेमें प्रधान कारण है।

सूर्यमें प्रकाश होना उसका स्वाभाविक गुण है। सूर्यपर परदा या बादल आजानेसे प्रकाश गुण नष्ट नहीं होता है किंतु बादल या परदाके कारण उस प्रकाश गुणका आवरण हो जाता है बादलोंका आवरण दूर हो जाने पर प्रकाश वैसा ही प्रकाश-रूप प्रकट होता है। परदा या बादलोंसे प्रकाश गुणमें विकार नहीं होता है। आत्मामें ज्ञानगुणका प्रकाश स्वभाव रूप सदैव विद्य-मान है उस ज्ञानगुणको कर्म आवरण कर लेता है ज्ञानको ढक लेता है। परंतु मोहनीकर्मके प्रभावसे ज्ञानमें विकृति प्रतिभास होती है जैसे विकृत कांचको नेत्रपर रखने पर सूर्यका प्रकाश विकृत दीखता है। मात्र भेद इतना ही है कि मोहनीकर्मके उद-यसे आत्माका ज्ञानका स्वादभी विपरीत होता है कार्य भी विप-रीत होता है और परणति विपरीत होती है।

दर्पणमें प्रतिछाया पडना दर्पणका स्वाभाविक गुण है कृत्रिम नहीं है सयोगी धर्म नहीं है। दूसरे पदार्थकी शक्तिसे उत्पन्न होता हो ऐसा भी नहीं है। या जबरन करालिया जाता हो ऐसा भी नहीं है। इसी प्रकार आत्माका ज्ञानगुण उसका स्वभाविक धर्म है आत्मा ज्ञानगुणके द्वारा सतत प्रकाशी है। समस्त पदार्थोंको प्रकाश करनेका उस आत्माका धर्म है। परन्तु जैसे दर्पणपर मैल सचिक्कन रुपसे जम गया हो तो दर्पणमें प्रतिबिंब

पड़नेका धर्म भी आच्छादित होजाता है। उस मैलको धोडालने पर दर्पणमें प्रतिछाया फिर भी उसी प्रकार पडने लगती है ठीक इसी प्रकार आत्मापर कर्मोंका मैल चढ जानेसे ऐसा आवरण आत्मा पर हो जाता है कि-जिससे पदार्थोंके जाननेकी शक्ति नष्ट होजाती है।

ज्ञानावरणी कर्म आत्माकी ज्ञानशक्तिका आवरण करता है पुद्गलोंमें आत्माके संबंधसे ऐसी विलक्षण शक्ति प्रकट होजाती है कि जिससे-वे पुद्गल ज्ञानावरण कर्म आत्माके ज्ञानको आच्छादित करदेते हैं ज्ञानगुणको ढ-लेते हैं। आवरण करलेते हैं। इसीको ज्ञानावरणरूप प्रकृतिकर्म कहते हैं।

जिस प्रकार मेघका पानी एक नींबूमें तीव्र खट्टा और दूसरे नीबूमें कम खट्टा और तीसरे नीबूमें उनसे भी कम खट्टा भावमें परिणमन करता है क्योंकि भिन्न-२ नीबूके भाव द्रव्य क्षेत्र कालकी योग्यता भिन्न २ रूपसे है। इसीप्रकार अनंत आत्माओंके भिन्न भिन्न प्रकारके भाव होनेसे-वही पुद्गल कार्मणवर्गणा भावोंकी तीव्रतर-मध्यम रूप परिणति होनेसे ज्ञानके आवरणमें घन सघन और निबिड सघनता उत्पन्न करता है। कोई कर्मभावोंकी मंद परिणमनसे ज्ञानका मंद आवरण करता है कोई कर्म, भावोंकी तीव्रतासे तीव्र (सघन) ज्ञानका आवरण करता है। इसीलिये एक जीवको कम ज्ञान है तो दूसरे जीवोंको विशेष ज्ञान है तीसरे जीवोंको और भी विशेष परिज्ञान है।

मतिज्ञानावरण कर्म—जो कर्म मन और इन्द्रियोंके-द्वारा होने

वाले   करे वह मतिज्ञानावरण कर्म है मतिज्ञानके ३३६   भेद हैं। भेद प्रभेदकी अपेक्षा अनंतानंत भेद हैं। (मतिज्ञानके भेद प्रभेदोंका वर्णन आगे लिखेंगे)

संसारी जीवोंको पदार्थोंका ज्ञान इन्द्रिय और मनके द्वारा ही होता है। यद्यपि ज्ञान यह आत्माका धर्म है। आत्माका गुण है आत्माका स्वभाव है तथापि छद्मस्थ जीवोंको वह ज्ञान पदार्थोंको इन्द्रिय और मनके द्वारा ही जानता है। मतिज्ञान इन्द्रिय और मनके द्वारा ही आत्माको पदार्थोंका प्रतिभास कराता है।

इन्द्रिय दो प्रकार है—द्रव्य इन्द्रिय और भाव इन्द्रिय। द्रव्य-इन्द्रियके भी दो भेद हैं–निर्वृत्ति और उपकरण। निर्वृत्तिके भी दो भेद हैं–बाह्यनिर्वृत्ति और आभ्यंतरनिर्वृत्ति। आत्माके प्रदेशोंमें इन्द्रिय रचना रूप होनेकी शक्ति होना सो आभ्यंतर निर्वृत्ति है। और उत्सेधांगुलके असंख्यातभाग प्रमाण पुद्गल कर्मोंकी रचना इन्द्रियरूप हो वह बाह्य निर्वृत्ति है। इन्द्रियोंके उपकरणोंको (रक्षकोंको) उपकरण कहते हैं। इन्द्रियोंमें आत्माके प्रदेश होनेसे इन्द्रियोंके द्वारा जो ज्ञान होता है वह आत्माको ही होता है। इन्द्रियोंमें ज्ञानशक्ति नहीं है जो इन्द्रियोंके द्वारा ज्ञान होरहा है वह केवल आत्माको ही होरहा है।

भावेन्द्रियके दो भेद माने हैं लब्धि और उपयोग। कर्मोंके क्षयो   प आत्माके भावोंमें ऐसी शक्ति प्रकट होना जिसके द्वारा आत्मा पदार्थोंको अवगत कर सके। इस क्षयोपशम शक्तिके बिना आत्मापर कर्मोंका आवरण ऐसा आच्छादित हो रहा है

कि जिसके विना आत्मामें पदार्थके जाननेकी ताकत आत्माके ज्ञानगुणमें प्रकट नहीं होती है।

जब तक आत्माके ज्ञानगुणमें आवरण है तब तक मात ज्ञान पदार्थोंके प्रकाश करनेमें असमर्थ है ज्ञानमें प्रकाश करनेकी शक्ति है। परन्तु उस शक्तिका आच्छादन कर्मके निमित्तसे होरहा है जो कर्म इन्द्रियोंके द्वारा होनेवाले ज्ञानमें ही आवरण कर देवे। तो जब तक उस कर्मका क्षयोपशम नहीं होगा तब तक आत्माके ज्ञानगुणमें जाननेकी शक्ति प्रकट नहीं रहती है इसलिये मतिज्ञा-नावरणकर्म इन्द्रिय और मनके ज्ञानगुणको प्रकट नहीं होने देता है।

श्रुतज्ञानावरण—मतिज्ञानके द्वारा जो ज्ञान आत्मामें प्रकट होता है उस ज्ञानमें विचारात्मक शक्ति श्रुतज्ञानके द्वारा व्यक्त होती है। आत्मा पर ऐसे कर्मोंका आवरण होजावे जिससे मति-ज्ञानके द्वारा संग्रहीत ज्ञानमें विचारात्मक शक्तिका अभाव हो।

पदार्थोंका जानलेना अवग्रहादिकोंके द्वारा आत्मसात कर लेना यह सब यद्यपि ज्ञानका विषय है मतिज्ञानको भी ज्ञान कहते हैं और श्रुतज्ञानको भी ज्ञान कहते हैं। जैसे मतिज्ञानके तीनसौ छत्तीस भेद या उत्तर भेद असंख्यात होते हैं। उसी प्रकार श्रुतज्ञानके द्वारा ज्ञानमें जो विशेषता विचारात्मक शक्ति होती है वह सब श्रुतज्ञानका विषय होता है। श्रुतज्ञानावरणकर्म ज्ञानमें ऐसे ही विचारात्मक शक्तिका आवरण करता है। जिससे ज्ञानमें ऊहापोहात्मक विशेष शक्ति प्रकट नहीं होती है। अथवा

हेयोपादेयके ग्रहण और त्यागका हिताहित प्रवृत्तिका विचार नहीं होता है। अथवा आत्महित और आत्माका अहितके ग्रहण त्यागका विचारात्मक धारणा नहीं होती है।

अक्षरात्मक श्रुत द्वारा शब्दोंका वाच्यतासे पदार्थोंके गुण—धर्म कार्य परिणति आदिके विषयमें विचारात्मक शक्तिका आवरण श्रुतज्ञानावरणकर्म करता है। भावात्मक श्रुतज्ञानका आवरण भी श्रुतज्ञानावरणकर्म करता है।

श्रुतज्ञानका स्वरुप ग्यारह अंग और चौदह पूर्व तक बतलाया है। अथवा जितने शब्द और अक्षरोंका संकलन द्वारा जो पदार्थों-की वाच्यतासे जो विचारात्मक ऊहापोहरूप प्रवृत्ति होती है वह समस्त श्रुतज्ञानका विषय होता है। इसलिये श्रुतज्ञानका विषय अनंत है और विषय भेदसे श्रुतज्ञानके भेद प्रभेद भी अनंतानंत हैं। श्रुतज्ञानावरण उन समस्त भेद-प्रभेदोंके श्रुतज्ञानको आवरण करता है।

समस्त संसारी जीवोंमें मतिज्ञान और श्रुतज्ञान होता है। एकेन्द्रिय लब्धि-अपर्याप्तक जीवमें भी श्रुतज्ञान होता है। सबसे अंतिम आवरण ऐसे निगोदिया जीवोंमें जो लब्धअपर्याप्तक अवस्थामें सबसे जघन्य अवगाहना और सबसे जघन्य ज्ञानकी शक्तिको धारण कर रहे हैं होता है। वहांपर अक्षरके अनंतवे भाग ज्ञान है इससे अधिक आवरण माना जाय तो आत्माका ही अभाव होगा इसलिये ज्ञानका आवरण आत्मापर कितना होसकता है इसका विचार सबको प्रत्येक समय रखना चाहिये।

वृक्ष आदि एकेन्द्रिय प्राणियोंमें कितना मंदज्ञान है कि जिसका व्यक्तीकरण होना ही दुर्घट है। कृमि कुंथादि दो इन्द्रिय प्राणियों में भी इसी प्रकार कर्मोंके विशेष आवरण द्वारा मंद-ज्ञान है। इस प्रकार इन्द्रियोंकी शक्ति परिपूर्ण होनेपर पशु आदि में कर्मोंके विशेष आवरणसे यह ज्ञान होता है कोई कोई मनुष्योंमें बिलकुल मंदज्ञान होता है और कोई मनुष्यमे अधिक ज्ञान होता है यह सब कर्मके आवरणका फल है।

दो इन्द्रिय आदि जीवोंमें श्रुतज्ञानावरणकर्मका जितना क्ष-योपशम है उतने रूपमें वह अपना इन्द्रियोंके द्वारा हिताहित प्रवृत्ति करता है। परन्तु सज्ञी पर्याप्त मनुष्य (मन सहित) को श्रुतज्ञा-
कर्मके क्षयोपशमसे जो हिताहितक ग्रहण और निवृत्ति रूप विचारात्मक जो श्रुतज्ञान होता है वैसा श्रुतज्ञान असंज्ञी जीवको नहीं होसका है।

श्रुतज्ञानका विषय मनका है। मनमें विचारात्मक शक्ति होती है। ध्यान, चितवन, पदर्थोंके स्वरूका मनन, पदार्थोंको कार्यकार-णताका ऊहापोहात्मक विचार—शब्दोंके द्वारा ग्रहीत पदाथकी पुर्व पर्याय व उत्तर पर्यायके फलका विचार—इत्यादि अनेक प्रकारका ग्रहण निवृत्ति रूप विचार यह सब श्रुतज्ञानका विषय है। श्रुतज्ञा-नावरण कर्म उपर्युक्तज्ञानके कार्योंका आवरण करता है।

श्रुतज्ञानावरण कर्मके आवरणसे जीवोंको मोक्षमार्गका विचार नहीं होता है जैसे जैसे श्रुतज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम विशेष-रूपसे होता जायगा वैसे वैसे आत्मामें मोक्षमार्गका प्रकाश अति उज्वलरूपसे प्रतिभासित हो जायगा।

मिथ्यात्वके उदयसे मतिज्ञान श्रुतज्ञान और अवधिज्ञानमें विपरीतता होती है मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका विशेष क्षयोपशम होनेपर भी जो मिथ्यात्वका उदय है तो मोक्षमार्गका प्रकाश आत्मामें नहीं होता है किन्तु मोक्षमार्गके विपरीत प्रकाश आत्मामें प्रकट होता है। ग्यारह अंग और नव पूर्वका ज्ञान रखनेवाला (मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका विशेष क्षयोपशम रखनेवाला जीव) मनुष्य मिथ्यात्वकर्मके उदयसे मोक्षमार्गसे पराङ्मुख होता है।

ज्ञानकी सम्यग्ज्ञानता या ज्ञानकी प्रमाणता मिथ्यात्वकर्मके अभाव मेंही (क्षय उपशममें) होती है। इसलिये मिथ्यादृष्टियोंको मतिज्ञान श्रुतज्ञानका क्षयोपशम विशेष हो सका है मिथ्यादृष्टी भी मतिज्ञान श्रुतज्ञानके प्रभावसे पदार्थोंको विशेष जानते हैं। भारी विद्वान् हो सके हैं। परन्तु उनका ज्ञान प्रमाणरूप सत्य नहीं होता है।

अवधिज्ञानावरण कर्म—जो कर्म, रूपी (मूर्तीक) पदार्थोंकी मर्यादासे होनेवाला इन्द्रिय और मनसे अगोचर (इन्द्रियातीत) आत्मीय ज्ञानको आवरण करे वह अवधिज्ञानावरण कर्म है।

अवधिज्ञानको प्रत्यक्षज्ञान बतलाया है वह आत्मोद्भव है। अवधिज्ञानमें इन्द्रिय और मनकी सहायताकी आवश्यकता नहीं है। अवधिज्ञानका विषय द्रव्य क्षेत्र कालकी अपेक्षासे बहुत भारी है। अवधिज्ञानी जीव कितने ही भवांतर बतला सक्ते हैं।

अवधिज्ञानके भेद असंख्यात हैं। तो भी मुख्य तीन भेद हैं देशावधि-सर्वावधि और परमावधि। सर्वावधि और परमावधि मोक्षमार्गस्थ छठे गुणस्थानी मुनि जीवको ही होती हैं और वह

मोक्षमार्गके-अन्तिमपर्यंत रहती है। देशावधि अनेक प्रकार हैं। देशावधिके अनुगामी भी हीयमान वर्द्धमान अवस्थित अनवस्थित आदि अनेक भेद हैं।

अवधिज्ञानावरणकर्म उपर्युक्त समस्त प्रकारके अवधिज्ञानको आवरण करता है। भवप्रत्ययसे होनेवाले अवधिज्ञानमें भी अवधिज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमकी आवश्यकता होती है देव और नारकी जीवोंके भवप्रत्यय अवधिज्ञान नियमसे होता है। जिस जीवको देव या नरकगतिमें जाना होतो उसको उसी समय अवधिज्ञानावरणका क्षयोपशम होता है।

जिसप्रकार मतिज्ञान श्रुतज्ञान वाह्यनिमित्त पठनपाठन स्वाध्याय-चिनवन मननसे व्यक्त होते हैं। (जो मतिज्ञानावरण कर्म और श्रुतज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम हो तो) उसीप्रकार अवधिज्ञान भी तपकी विशेष शक्तिसे व्यक्त होता है।

ज्ञानके व्यक्त होनेमें आभ्यंतर और वाह्य दोनों प्रकारके कारण होते हैं। अंतरंग कारणकी प्रबलता होनेपर और वाह्य कारणका सहज निमित्तमात्र मिलनेपर कार्य प्रकट होजाता है, अवधिज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम अंतरंग-कारण प्रबल होनेपर और वाह्य तपश्चरणकी सातिशय विशुद्धता होनेपर अवधिज्ञान प्रकट होता है।

मनःपर्ययज्ञानावरण कर्म—जो कर्म दूसरे जीवोंके मनमें अवधारित हुए सूक्ष्म अत्यंत सूक्ष्म मूर्तिमान पदार्थ और उनकी पर्यायको इन्द्रिय और मनकी सहायता विना ही आत्मासे होने-

इस प्रकार सर्वोत्कृष्ट मनःपर्ययज्ञानका आवरण मनःपर्ययज्ञानावरण कर्म करता है।

केवलज्ञानावरण कर्म—जो कर्म सकल विश्वव्यापी त्रिकालके समस्त चराचर मूर्तीक अमूर्तीक पदार्थ और उनकी त्रिकालमें होनेवाली समस्त पर्यायोंको विना किसीकी सहायतासे होनेवाले निरावरण अतीन्द्रियज्ञानको आवरण करता है उसको केवलज्ञानावरण कर्म कहते हैं।

केवलज्ञान, परमात्मा, सर्वज्ञ, ईश्वर, वीतराग, निर्दोषी परम पवित्र अनंतचतुष्टय मंडित (अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतवीर्य और अनंतसुख) इत्यादि सगुण विराजमान जन्ममरण आदि उपाधिसे रहित घातिया कर्मोंको प्रचंड ध्यानाग्निके द्वारा भस्मीभूत करनेवाले परमविशुद्ध आत्माको होता है। अथवा जिस महान् आत्मामें केवलज्ञान प्रगट होता है उसे ही सर्वज्ञवीतराग जीवन्मुक्त परमात्मा कहते हैं।

संसारसे परातीत अवस्था जिनको प्राप्त होगई है। जिनको जप, तप, ध्यान और सर्वोत्कृष्ट चारित्रके द्वारा जीवन्मुक्त अवस्था प्राप्त होगई है। जिन्होंने जन्म, मरण, शोक, चिन्ता, जरा, रोग क्षुधा, तृषा, भय आशा आदि समस्त दोषोंको जीत लिया है। जिनने काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, छल, प्रपंच मद मात्सर्य आदि दोषोंको जीत लिया है इसीलिये जो परमेष्ठीपदको धारणकर परंज्योतिस्वरूप कृतकृत्य, विमल, अविनश्वर, कर्मचक्रके द्वंद्वसे रहित, सर्व स्वतंत्र, सर्व शक्तिमान, अतुलवीर्य और

वाला अत्यंत पराधीन अपने स्वभावसे च्युत क्षुद्र-पर्यायोंके द्वारा जन्म-मरणको धारण करनेवाला एक प्रकारसे जड़रूप प्रतिभाषित होने लगता हैं। जिस प्रकार पुद्गलों (कर्म) में अचित्य शक्ति है जीवको किस अवस्थामें परिणमन करा रखा है। परन्तु जीवकी शक्ति पुद्गलकर्मोंसे भी अनंतानंत गुणी अधिक है अनादिकालसे संगृहीत किये हुए दुर्धर्षकर्म एक अंतमुहूर्तमें यह जीव अपनी अनंत शक्तिके द्वारा नाश कर सक्ता है। अनादिकालके कर्मबंधनोंको एक क्षणमात्रमें तोड सक्ता है। इसलिये अपने भावोंको विशुद्ध रखकर और जिनेंद्रभगवानके परम पवित्र शासनका शरण रखकर कर्मोंको नाश करनेका प्रयत्न करना चाहिये।

दर्शनावरणीकर्म—जिस प्रकार ज्ञानावरणीकर्म आत्माके ज्ञानगुणका आवरण (घात) करता है। उसी प्रकार दर्शनावरणी कर्म आत्माके दर्शनगुणका आवरण करता है।

आत्माका स्वभाव समस्त पदार्थको देखनेका है संसारमें ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है, जिसको आत्मा देख नहीं सक्ता हो। संसारके समस्त चराचर पदार्थ और त्रिकालवर्ती समस्त उनकी मूर्तीक अमूर्तीक पर्यायोंको एक साथ देखनेकी शक्ति आत्मामें है। यह दृष्टागुण आत्माका स्वभाविक गुण है। कृत्रिम नहीं है, किसी उपाधिसे प्राप्त नहीं है। देखनेका गुण आत्माको छोडकर अन्य पदार्थमें यह गुण सर्वथा नहीं है। इसीलिये आत्माका यह धर्म है। आत्माका यह स्वभाव है। आत्माका यह लक्षण है।

आत्माकी शुद्ध और अशुद्ध अवस्थामें यह गुण कथंचित किसी प्रकार व्यक्त हैं। इसगुणके प्रभावसे ही पदार्थोंका देखना होता है

संसारी जीवोंको तो दर्शनपूर्वकही ज्ञान होता है। प्रथम पदार्थका दर्शन होता है पीछेसे ज्ञान होता है परन्तु मुक्त परमात्माको दर्शन और ज्ञान एक साथ ही प्रतिभासित होते हैं दोनोंका कार्य सूर्यके प्रकाश और प्रताप-समान एक साथ होता है। ज्ञान और दर्शन ये दोनों शक्ति भिन्न भिन्न हैं। ज्ञान दर्शन नहीं है और दर्शन ज्ञान नहीं है। ज्ञानका कार्य भिन्न २ हैं और दर्शनका कार्य भिन्न है। ज्ञान और दर्शन ये दोनोंही आत्माके पृथक् पृथक् गुण हैं। दर्शनावरण कर्म आत्माके इस द्रष्टागुणका आवरण करता है। घात करता है।

दर्शनावरण कर्मका तीव्र मध्यम आवरण सबको होता है। दर्शनावरण कर्मका उदय सब संसारी जीवोंको होता है, यदि दर्शनावरणकर्मका क्षयोपशम नहीं हो तो पदार्थका दर्शन कदापि नहीं हो सके। और विना पदार्थ दर्शनके पदार्थका परिज्ञान भी किसी अवस्थामें किसीको नहीं हो सके इसलिये पदार्थ-परिज्ञानकेलिये दर्शनावरणकर्मका क्षयोपशम होना आवश्यक है।

एक मनुष्यके नेत्र होनेपर यदि दर्शनावरण कर्मका क्षयोपशम नहीं है तो पदार्थका परिज्ञान नेत्र इन्द्रियके द्वारा सर्वथा नहीं होता है। और जो दर्शनावरण कर्मका क्षयोपशम है तो नेत्रके बिना ही पदार्थका परिज्ञान कचित हो जाता है इसलिये दर्शनावरणका क्षयोपशम पदार्थपरिज्ञानके लिये आभ्यन्तर कारण है, आभ्यन्तर कारण उपस्थित होनेपर कार्य आवश्यंभावी है।

पन्द्रह प्रमादोंमेंसे एक निद्रा नामका प्रमाद है। निद्रा प्रमाद सदैव आत्माके गुणोमें व्याघात पहुंचाता रहता है। निद्रा यह दर्शनावरणकर्मका भेद है इसलिये दर्शनावरण कर्म आत्माका साक्षात्कार होनेमें प्रतिबाधक है इसलिये दर्शनावरणको दूर करनेके लिये योगीजन ध्यान संयम तपश्चरण करते हैं।

जिस प्रकार एक राजाका दर्शन प्रहरी (पहरेदार सिपाई) रोक देता है ठीक इसी प्रकार पदार्थोंके दर्शनको दर्शनावरण कर्म रोक देता है। पुद्गलपरमाणुओंमें आत्माके संयोगसे ऐसी विलक्षण शक्ति उत्पन्न हो जाती है जिससे आत्मामें दृष्टागुणको उपयोग नहीं हो सक्ता है। आत्मा दर्शनावरणीकर्मके उदयसे पदार्थोंको देख नही सक्ता है। यद्यपि दर्शनगुण आत्माका है और वह त्रिलोकका दर्शन आत्माको एक क्षणमें विना किसीकी सहायताके करा सक्ता है परंतु वह गुण दर्शनावरणी कर्मके उदयसे अव्यक्त हो गया है।

दर्शनावरण-कर्मके भेद

(१) चक्षु दर्शनावरण कर्म—जो आत्माको चक्षु द्वारा पदार्थोंका और पदार्थोंके रूप (वर्ण) का दर्शन नही होने देवे उसको चक्षुदर्शनावरण कर्म कहते हैं। पदार्थोंके वर्ण और पदार्थोंका दर्शन, चक्षु (नेत्र) इन्द्रिय द्वारा होता है। जैसे—लाल आम्रका दर्शन, चक्षुके द्वारा आत्माको होना सो चक्षुदर्शन है। चक्षुमें देखनेकी शक्ति है परतु आत्मामें चक्षुदर्शनावरण कर्मका उदय होनेपर आम्रका दर्शन आत्माको नहीं होता है।

(२) जो कर्म आत्माको चक्षुदर्शनके सिवाय अन्य स्पर्शादिक इन्द्रियोंसे होनेवाला अचक्षुदर्शनका घात करे आवरण करे उसको अचक्षुदर्शनावरण कर्म कहते हैं। हवाका शीत परिज्ञान-सूर्यकी उष्णताका दर्शन, स्निग्धताका दर्शन, कर्कश कठोर पदार्थका स्पर्श द्वारा दर्शन यह सब अचक्षुदर्शन हैं। इसी प्रकार आम्ल-रसका दर्शन, मधुर रसका दर्शन, तिक्त पदार्थका दर्शन, कटु पदार्थका दर्शन इत्यादि पदार्थोंके रसका अचक्षुदर्शन जिह्वा (रसना, इन्द्रिय द्वारा आत्माको होता है, सुगंधोंका दर्शन दुर्गंधीका दर्शन यह अचक्षुदर्शन घ्राण इन्द्रिय द्वारा आत्माको होता है। जैसे गुलाबके फूलकी सुगंधी और मिट्टीके तेलकी दुर्गंधीका दर्शन यह अचक्षु दर्शन है। तत-वितत-नाद आदि अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक पदार्थोंका दर्शन यह श्रोत इन्द्रियका अचक्षुदर्शन हैं। चक्षुइन्द्रियको छोडकर अवशेष चार इन्द्रियोंके द्वारा रसरूप गंध और शब्द तथा तन्मिश्रित पदार्थोंका दर्शन अचक्षु दर्शन कहलाता है।

एकेन्द्रियसे आदि लेकर तीन इन्द्रिय पर्यंत जीवोंको तो नियमसे अचक्षु दर्शन ही होता है चार इन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवोंको चक्षुदर्शन और अचक्षु दर्शन होता है। मनसे पदार्थका अवलोकन करना सो भी अचक्षु दर्शन कहलाता है।

इस प्रकार अचक्षु-दर्शनावरण अनेक-प्रकारसे होता है। द्रव्य क्षेत्र कालकी अपेक्षासे अचक्षुदर्शनावरण कर्मके असंख्यात भेद प्रभेद हैं। उन सबको अचक्षुदर्शनावरण कर्म करता हैं।

३–अवधि दर्शनावरण—जो कर्म अवधि दर्शनको आवरण करे उसको अवधिदर्शनावरण कर्म कहते हैं। अवधिज्ञानके प्रथम अवधिदर्शन होता है अवधिदर्शनके आवरण-अवधिको दर्शनावरण कर्म कहते हैं।

देव नारकी जीवोंको अवधिदर्शन भवप्रत्यय रूप होता है। अन्य साधारण संसारी जीवोंको क्षयोपशम निमित्त अवधिदर्शन होता है। यद्यपि भवप्रत्यय अवधिदर्शनमें अवधिदर्शनावरण कर्मका क्षयोपशम होता ही है और अवधिदर्शनमें तो क्षयोपशम प्रत्यक्ष ही कारण है।

जिस प्रकार अवधिज्ञान आत्मासे होता है इसी प्रकार अवधिदर्शन भी आत्मासे होता है। इन्द्रिय और मनसे अवधिदर्शनका संबंध नहीं है।

अवधिदर्शनसे सुदूरवर्ती पदार्थका दर्शन होता है। कालसे बहुत कालवर्ती पदार्थका दर्शन होता है।

अवधिदर्शनसे जीव पदार्थोंका दर्शन करता है और अवधिदर्शनावरण कर्म उसका आवरण करता है।

(४) केवल दर्शन—जो कर्म आत्माको सकल जगतके चराचर पदार्थोंका एक साथ प्रत्यक्ष दर्शनका आवरण करे उसे केवलदर्शनावरण कर्म कहते हैं।

जैसे केवलज्ञानसे समस्त पदार्थोंका ज्ञान होता है आत्मा ज्ञायक-स्वभाववाला है वैसे समस्त पदार्थोंका दर्शन केवलदर्शनसे होता है इसलिये आत्मा द्रष्टा स्वभाववाला है।

(५) निद्रादर्शनावरण कर्म—जिस कर्मके उदयसे आत्मा-को निद्रा उत्पन्न होती है। मद-क्लेद शोक-संताप और श्रमको दूर करनेको जो स्वाप लिया जाता है उसको निद्रा कहते हैं यह निद्रा निद्रावरण (दर्शनावरण) कर्मके उदयसे जीवोंको प्रकट होती हैं।

निद्राके समय आत्माको चक्षु और अचक्षु-दर्शनका अभाव हो जाता है इसीलिये निद्रा दर्शनावरण कर्मका ही भेद होता है। निद्राके समय पदार्थका दर्शन नहीं होता है, पदार्थके दर्शन नहीं होनेसे मोक्षमार्गकी क्रियाका अभाव होता हैं।

जो मनुष्य स्वल्प शब्दके श्रवणमात्रसे निद्राका परित्यागकर पूर्ण रूपसे सचेतन हो जावे प्रमाद और आलस्य न रहे उस निद्राको निद्रा कहते हैं। निद्रा दर्शनावरणकर्मके उदयसे जीवोंको स्वाप होता है।

(६) निद्रा—निद्रादर्शनावरण कर्म—निद्रा निद्रादर्शनावरण कर्मके उदयसे स्वापके ऊपर वारम्वार स्वाप (निद्रा) आवे उसको निद्रा—निद्रादर्शनावरण कर्म कहते हैं।

निद्रा—निद्रादर्शनावरण कर्मके उदयसे जीव जरासे निमित्त-कारण निद्राके मिलनेपर सहज वातमें स्वाप लेता है। वृक्ष तले ही सो जाना। विषम भूमि या समभूमिमें सोजाना, घोर स्वाप लेना, ऐसा स्वाप लेना कि जिससे जागृत होनेमें कुछ कष्ट हो।

निद्रा—निद्रादर्शनावरण कर्मसे आत्माके ज्ञान और दर्शन गुणमें व्याघात होता हैं आवरण होनेसे दर्शनका कार्य रुक जाता हैं पुरुषार्थ क्रियामें भी प्रमाद होता है इसलिये निद्रा-निद्रादर्शना-वरण कर्मको जीतनेका प्रयत्न करना चाहिये।

(७) प्रचलादर्शनावरण कर्म—जो कर्म अपने उदयसे स्वाप अवस्थामें आत्माको प्रचलित कराता है, या नेत्र इन्द्रिय भृकुटि आदि अङ्गोपाङ्गमें क्रिया कराता है, विकार कराता है, उसको प्रचला दर्शनावरण कर्म कहते हैं ।

प्रचला नामक निद्राके उदयसे जीवोंके नेत्र बालुकाके समान हो जाते हैं । शिरपर किसीने मानो वजन लाद दिया हो ऐसी प्रतीति होती है । बारम्बार नेत्रोंको खोलता है और मींचता है । मनमें यह शङ्का रहती है कि अब मैं गिरा अभी पडता हूं । बैठे २ सोने लग जाय । काम करते २ जंभाई लेने लग जाय इत्यादि अनेक प्रकार दुश्चेष्टा प्रचला नामक दर्शनावरण कर्मके उदयसे जीवोंको होती है ।

८ -प्रचला—प्रचलादर्शनावरणकर्म—जो कर्म जीवोंको घोर निद्रा उत्पन्न करे, बेहोसी बनी रहे, मूर्च्छासे शरीर कार्य करनेमें सर्वथा असमर्थ बना रहे, शरीरके समस्त अवयव निद्राकी प्रबलतासे शिथिलरूप होजावें, नेत्र भृकुटि विकारी बन जावे, निद्रा लेनेपर भी पुनः पुनः निद्राकेही भाव प्रकट होते रहें । दुःस्वप्न और दुश्चेष्टा सदैव बनी रहे । इत्यादि घोरतम निद्राके उत्पादक कर्मको प्रचला-प्रचला दर्शनावरण कर्म कहते हैं ।

प्रचला-प्रचला निद्रासे मुखमेंसे लार वहती है, घुर्राटे लेकर भयंकर शब्दोंको करता है, शिर हिलने लग जाता है और भी दुश्चेष्टायें प्रचला प्रचला दर्शनावरण कर्मके उदयसे जीवोंको होती हैं ।

९—स्त्यानगृद्धि दर्शनावरण कर्म—जिस कर्मके उदयसे जीव

निद्रामे (सोते सोते) ही भारी भारी कार्य कर लेवे और निद्राके दूर होनेपर उसका विचार नहीं रहे। निद्रा निद्रा ही में गांव जाकर आजावे और पुनः निद्रामें मग्न होजावे वह स्त्यानगृद्धि नामका दर्शनावरण कर्म है।

स्त्यानगृद्धिसे दांत कटकटायमान होते हैं। निद्रासे उठकर पुन गिरता है। मारने लगता है दौडता है। स्वप्नमे भयानक क्रीडा करता है और नृत्य करने लगता है। जागृत अवस्थाके बहुतसे कार्य निद्रा अवस्थामें ही जीव स्त्यानगृद्धि निद्राके उदयसे करता है।

इस प्रकार दर्शनावरण कर्म प्रतीहारके समान आत्माके दर्शन करनेमे बाधक होता है। दर्शनावरण कर्मके साथ जो मोहनी (मिथ्यात्व) कर्मका उदय होतो जीवोकी दशा बडी भयानक हो जाती है। दर्शनावरणकर्मके क्षयोपशममें भी पदार्थोंका दर्शन विपरीत दीखता है। भ्रांतिस्वरूप दीखता है। अनिश्चयात्मक दर्शन होता है या कुछका कुछ प्रतिभासने लगता है। जिस प्रकार मिथ्यात्वके उदयके योगसे ज्ञानमें विपरीतभाव होते हैं वैसेही मिथ्यात्वके उदयके योगसे दर्शनमें भी विपरीत परिणति होती है।

वेदनीयकर्म—जिस कर्मके उदयसे जीव सुख दुःखके कारणभूत भोगोपभोग पदार्थोंको भोगनेसे-आस्वाद लेनेसे सुख और दुःखकी प्रतीति माने; सुख दुःखका वेदनकर अपनी आत्माको सुखी दुःखी माने सो वेदनीयकर्म है।

जिस प्रकार तलवारकी धारपर मधु (शहत) लगाकर

आस्वादन किया जाय तो मधुके आस्वादनसे मधुरताका सुख और तलवारकी धारकी तीक्ष्ण वेदनासे दुःखका उद्बोध होता है उसी प्रकार एकही वेदनीयकर्मसे जीवको सुखदुःख प्रदान होता है।

यद्यपि जीव अनीन्द्रिय, निराकुल, अनंत अव्याबाध, अक्षय ऐसा आत्मीय सुख स्वभाववाला है। वह आत्मीय अनंत-सुख आत्मामें स्वभावरूपसे सदैव प्रवाहित होता रहता है किसी दूसरे पदार्थके संयोगकी अपेक्षा नहीं है। या प्रयत्न करनेकी अपेक्षा नहीं है उस सुखका भास अनुवेदन करनेसे नहीं होता है और न उसके लिये किसी प्रकारकी चाहना करनी पडती है किंतु उस सुखमय आत्मा होनेसे, सुखका अनुभोग स्वयमेव आत्मधर्मरूपी होता ही रहता है।

सुख दुःखका आस्वादन इन्द्रिय और मनके कारणसे प्रतीत है किंतु जीवके इन्द्रिय और मन नहीं हैं जिससे सुख दुःखका वेदन करें परन्तु अनादिकालसे संसारी जीवकी आत्मा अशुद्ध होरही है। वेदनीकर्मकी पराधीनता प्रबलताके साथ होरही है। जिससे, यह जीव वेदनीकर्मसे प्राप्त पर-पदार्थ भोगोपभोग इष्टा-निष्ट सामग्रीकी प्राप्ति और अप्राप्तिमें अपनेको सुखी दुःखी हैं पर-पदार्थोंसे सुख दुःखका अनुवेदन करता है। आस्वाद करता है। अनुभोग करता है, सेवन करता है, आकांक्षा करता है और उसके फलमें हर्षित होता है विषादको प्राप्त होता है यह सब वेदनीकर्मके उदयसे ही जीवका परिणमन ऐसा होरहा है।

जीव अपने शुभाशुभ कृत्योंद्वारा, अपने भले-बुरे विचार द्वारा

सदाचार और कदाचार द्वारा, पाप पुण्यरूप प्रवृति द्वारा, सत्य और मिथ्यावचनवर्गणाद्वारा, हिंसा झूंठ चोरी कुशील पापाचरण अनीति अन्याय और जप तप ध्यान पूजा दान स्वाध्याय देवशास्त्रगुरु श्रद्धान द्वारा जो कर्म करता है उसका ही फल सुख दुःख रूप वेदनीय कर्म द्वारा प्राप्त होता है।

जीव जैसे भले बुरे कार्य करता है उसका फल वह स्वयं वेदनीय कर्म द्वारा प्राप्त कर लेता है।

ऐसा नहीं है कि जीव तो स्वयं पाप-कर्म करे और उसका फल ईश्वर प्रदान करे या ईश्वर पापकर्मसे मुक्त कर देवे अथवा ईश्वर ही उन पाप-कर्मोंके फलको भोगे। ऐसा भी नहीं है कि कर्म तो ईश्वर करावे और जीव उसका फल सुख दु.ख भोगे।

जीवका कर्ता और भोक्तारूप है। इसलिये न तो भले बुरे कर्मको ईश्वर जीवसे कराता ही है और न उसका फल ही ईश्वर भोगता है या देता है ऐसा माना जाय तो जीवकी शक्ति वंध और मोक्षकी ठहर जाय। अथवा जीवकी पराधीनता सदाके लिये सुनिश्चित दृढ़ होजाय, जीव अकिंचित्कर होजाय और ईश्वरका किसी प्रकार निरावाध सत्य-सत्य स्वरूप सुनिश्चितरूपसे न वन सके। इसलिये जीव स्वयं कर्म करता है और वेदनीकर्म द्वारा स्वयं उसका फल भोगता है।

"स्वयं कर्म करोत्यात्मा स्वयं च फलमश्नुते"

"आत्मा स्वयं कर्म कर्ता है और स्वयं उसका फल भोगनेवाला

है" जो रोगी है वह स्वयं औषध सेवन करे तो रोगसे मुक्त हो सक्ता है। पुत्रके रोगमें कोई भी माता पिता भाई आदि कुटुंब कबीला साझी नहीं हो सक्ता और न कोई भी साझी होता है। किंतु जिसके जैसे कार्य उसको वैसा दंड (फल) स्वयं वेदनीय कर्म द्वारा प्राप्त होजाता है।

पुत्र भाई धन संपत्ति महल घोड़ा हाथी और उत्तम भोग संपदाकी प्राप्ति तथा शत्रु विष दरिद्रता रोग पीडा आदि अनिष्टपदार्थों की स्वयमेव प्राप्ति वेदनीय कर्मके उदयसे जीवोंको होती है।

जीवका न तो कोई मित्र है न कोई बंधु है न कोई माता है न पिता है न कुटुंबकबीला है तथा इसी प्रकार जीवका कोई भी शत्रु नहीं है वैरी नहीं है दुख देनेवाला है। धनादिक संपतिका नाश करनेवाला नहीं है किन्तु वेदनी कर्मके उदयसे ऐसे शुभाशुभ निमित्त स्वयमेव प्राप्त हो जाते हैं, राजा रंक हो जाता है और रंक राजा होता है, निर्धन सधन होता है और सधन निर्धन होता है, विष अमृत होता है, अमृत विष रूप होता है। सातावेदनीय कर्मके उदयसे संसार बंधु हो जाता है और असातावेदनीय कर्मके उदयसे बंधु भी शत्रु हो जाते हैं।

ऐसा भी नहीं है कि जीवको सुख दुःख अनुवेदन नहीं होता है माया (भ्रम) से ऐसा दीखता है। इस प्रकारकी कल्पना मिथ्या है। अशुद्ध संसारी जीवोंमें कर्मोंके निमित्त सुख दुःख अनुवेदन करनेकी शक्ति उत्पन्न होजाती है और उस शक्तिके अभावसे जीव सुख दुःखका अनुवेदन करता है। ऐसा नहीं माना

पर-पदार्थोंमें सुख दुःखका उद्भास होने लगता है संसारमें जो कुछ प्रिय अप्रिय पदार्थोंका उद्भास होरहा है वह सब वेदनीकर्मके निमित्तसे ही है।

पदार्थोंमें सुख दुःख देनेकी शक्ति नहीं है किंतु आत्माके भावोंसे और वेदनी कर्मके उदयसे उन पदार्थोंमें ऐसी शक्ति प्रकट हो जाती है जिससे सुख दुःखकी प्रतीति जीवको होती है।

वेदनीकर्मके भेद

वेदनीकर्मके दो भेद हैं। १—सातावेदनी, २—असातावेदनी। जिस कर्मके उदयसे जीवोंको सांसारिक सुख प्राप्त हो इन्द्रिय और मनको सतोष-कारक सामग्री प्राप्त हो वह सातावेदनी कर्म है। सातावेदनी कर्मके उदयसे द्रव्य—क्षेत्र—काल और भावके द्वारा जीवोंको सुख प्राप्त होता है।

द्रव्यसे यथा—मनोज्ञ—इन्द्रिय मनको संतोषकारक दु और प्रिय ऐसे अन्नपान भोगोपभोग सामग्रीकी प्राप्ति, मनोहर कोमल और प्यारे वस्त्रोंकी प्राप्ति, उत्तमोत्तम रत्न सुवर्ण आदिके अलंकारोंकी प्राप्ति, सुखोत्पादक हाथी घोडा रथ पालकी आदि वाहनोंकी प्राप्ति, नयनप्रिय सुन्दर शरीरकी प्राप्ति, सेवाभक्तपरायण स्त्री पुत्रादिकी प्राप्ति इत्यादि अनेक प्रकार द्रव्यके द्वारा जो कर्म जीवोंको सुख उत्पन्न करे उसको सातावेदनी कर्म कहते हैं।

क्षेत्रसे यथा—उत्तमोत्तम विमान, उत्तमोत्तम महल, मनोज्ञ प्रासाद-सुखकर प्यारी वसतिका घर आदि क्षेत्रके द्वारा जो कर्म जीवोंको सुख उत्पन्न करे उसको सातावेदनी कर्म कहते हैं।

कालसे यथा—शीतबाधारहित, उष्णबाधारहित, अतिवृष्टि बाधारहित, अनावृष्टि बाधारहित, रोग पीडा और संतापकी बाधासे रहित सुखमय कालके द्वारा जो कर्म जीवोंको सुख उत्पन्न करे वह सातावेदनी कर्म है।

भावसे यथा—उपशम परिणाम—शांतिमय जीवन, संक्लेश-रहित भाव, चिंता और मानसीक पीडा रहित परिणाम, आर्त्त और दुर्विचार रहित निराकुल भावके द्वारा जो कर्म जीवोंको सुख उत्पन्न करे वह सातावेदनी कर्म है।

जिस कर्मके उदयसे सब प्रकारके दुःख प्राप्त हों, इन्द्रिय मन और शरीरको पीडा करनेवाली सामग्री प्राप्त हो, अनिष्ट वस्तुका समागम हो या इष्ट वस्तुका वियोग हो उसको असातावेदनीकर्म कहते हैं।

असातावेदनी कर्म भी द्रव्य-क्षेत्र-काल और भावके द्वारा जीवोंको दुःख प्राप्त करता है।

क्षेत्रसे यथा–रौरव कुंभीपाकादिनरक क्षेत्रकी प्राप्ति, दुर्गंध अशुचि कीच आदिसे व्यामिश्रित क्षेत्रकी प्राप्ति, गंधक तेजाप सोरा पारा आदि धातुओंसे परिपूर्ण अत्यन्त उष्ण क्षेत्रकी प्राप्ति या समुद्र नदी वर्फ आदि शीतमय क्षेत्रकी प्राप्तिके द्वारा जो कर्म जीवोंको दुःख उत्पन्न करे वह असातावेदनी कर्म है।

कालसे यथा--शीत अत्यंत शीतकाल, विषम और दुस्सह उष्णता-पूर्ण काल, रोग आधि-व्याधिसे परिपुर्ण काल, अतिवृष्टि अनावृष्टिसे व्याप्तकाल, शरीर और मनको संतापकारी कालके द्वारा जो कर्म जीवोंको दुःख उत्पन्न करे वह असातावेदनी कर्म है।

भावसे यथा–क्रोधसे संतप्त भाव, मानसे जर्जरित भाव, मायासे कलुषित भाव, लोभसे व्याकुलित भाव, कामसे पीडित भाव, चिंतासे अमनस्क भाव, ईर्षा मत्सर द्वेषसे कलहकारीभाव, राग प्रेम और हर्षसे उन्मादित भाव आदि कुत्सित भावोंके द्वारा जो कर्म जीवोंको दुःख उत्पन्न करे वह असातावेदनी कर्म है।

इस प्रकार वेदनीकर्म जीवोंको सुख दुःखका प्रदान करनेवाला है। संसारमें सुख दुःखके जितने कारण हैं वे सब प्रायः वेदनीकर्मके उदयसे जीवोंको बाह्य निमितकारणसे प्राप्त होते हैं। जिन जीवोंको सातावेदनी कर्मका उदय है तो ही उनका उद्योग सफलीभूत होगा, असातावेदनी कर्मके उदयसे कितना ही उद्योग किया जाय, परन्तु वह सफल नहीं होता है यह कर्मकी विचित्रता है इसलिये सुखमें हर्ष और दुःखमें शोक नहीं करना चाहिये।

सम्यग्दृष्टी जीवोंको ही पुरुषार्थकी प्राप्ति होती है इतर संसारी जीवोंको पुरुषार्थ नहीं होता है। मोक्षकी प्राप्ति पुरुषार्थके द्वारा ही होती है। इसलिये भव्यजीवोंको परमपुरुषार्थकी प्राप्तिकेलिये वेदनीयकर्मके उदयमें सुख और दुःख नहीं मानना चाहिये।

मोहनीकर्मके उदय (मिथ्यात्व) से जीवोंको वेदनीकर्म विपरीत अनुवेदन कराता है। मिथ्यादृष्टी जीव शरीरके जन्ममें आत्माका जन्म और शरीरके मरणमें आत्माका मरण, शरीरके सुखमें आत्मीय सुख मानता है। पुत्र मित्र कलत्र आदि बन्धु कुटुम्ब कबीला और धन संपत्तिको अपनाता है। वेदनीकर्मसे प्राप्त भोगोपभोग पदार्थोंमें आत्मबुद्धि करता है। आत्माका अनुवेदन करता है इसलिये पर-पदार्थोंसे राग द्वेष करता है। इष्ट-वस्तुकी प्राप्तिमें सुखी होता है अनिष्ट वस्तुकी प्राप्तिमें दुःखी होता है, इष्ट वस्तुके वियोगमें दुःखी होता है और अनिष्ट वस्तुके वियोगमें सुखी होता है परन्तु यह सब वेदनीकर्मके उदयका फल है। उसको ही आत्मा मानना और वैसा अनुवेदन करना यह सब मिथ्यात्वकर्मके उदयसेही वेदनीकर्मके अनुवेदनमें विपरीत भाव है

सम्यग्दृष्टी जीव वेदनीकर्मके उदयसे होनेवाले सुख दुःख तथा वैसी सुख दुःख प्रदान करनेवाली सामग्रीके प्राप्त होनेपर हर्ष और दुःखी नहीं होता है। वेदनीकर्मकी उदयावलिको भोग करता हुआ सम्यग्दृष्टी जीव उसमें आत्मबुद्धि नहीं करता है साता-वेदनीके उदयसे प्राप्त सुखको आत्मीय सुख नहीं मानता है उसमें आत्मजन्य भावोंकी कल्पना नहीं करता है। इसलिये वह वेद-

नी कर्मके उदयको भोगता हुआ भी उससे अलिप्त रहता है, राग-द्वेषकी अथवा आर्त रौद्र परिणाम नहीं करता है असाताके उदयमें व्याकुलित नहीं होता है। साताके उदयमें वैकुण्ठ सुख नहीं मानता है।

इस प्रकार वेदनीकर्मके उदयसे जीवोंको अनेक प्रकारके सुख दुःख भाव होते हैं। जीवोंके भावोंके भेदसे वेदनीकर्मके अनेक भेद होते हैं तोभी उन सबका कार्य सुख दुःख होनेसे समस्त भेद वेदनीकर्ममें ही अंतर्गत होते हैं।

वेदनी कर्म आत्माके गुणोंका प्रतिघात नहीं करता है। जिस प्रकार ज्ञानावरण कर्म या दर्शनावरण कर्म आत्माके ज्ञान और दर्शन गुणोंका प्रतिघात करते हैं वैसे वेदनीकर्मके उदयसे आत्माका कोई भी गुण प्रतिघात नहीं होता है इसलिये वेदनीकर्म अघाती है।

तीर्थंकर केवली भगवानके आत्मीय गुणोंका प्रकाश व्यक्त होगया है परन्तु तीर्थंकर केवली भगवानके वेदनीकर्मका उदय मोजूद है। इसलिये वेदनीकर्म आत्माके गुणोंका घातक नहीं है।

कितने ही मनुष्य—वेदनीकर्म आत्माके अतीन्द्रिय सुखका घात करता है ऐसा मानते हैं परन्तु यह एक मनोनीत कपोलकल्पना है। तीर्थंकर केवली-भगवानके आत्मीय अतीन्द्रिय अनंतसुखका व्यक्तीकरण है परन्तु वेदनीकर्मका अभाव नहीं है किन्तु उदय ही है।

इस प्रकार वेदनीकर्म मिथ्यात्वगुणस्थानसे लेकर दशवें

गुणस्थानपर्यंत अनुवेदन कराता है और ग्यारह बारह और तेरहवें गुणस्थानोंमें मोहनीकर्मका अभाव होनेसे वेदनीकर्मका उदय होने पर भी समान होता है। अनुवेदना नहीं होती है।

मोहनीकर्म

जिस कर्मके उदयसे जीवके गुणोंमें विपरीत भाव उत्पन्न हो अतत्त्वमें तत्त्व प्रतीति हो। तत्त्वमें अतत्त्व प्रतीति हो। अपने स्वभावको भूलकर विपरीतभावमें आत्मश्रद्धा करे उसको मोहनी कर्म कहते हैं। जिस प्रकार उन्मादी मत्त-मनुष्यको हिताहित-बुद्धि नहीं होती है। वस्तुओंके सत्यासत्यका निर्णय नहीं रहता है। उसके ज्ञानमें प्रमाणिकता नहीं रहती है। उसकी परिणति विपरीत असत्य श्रद्धानरूप मिथ्या रहती है। उसके भावोंमें व्यामोहकी विष-मिश्रित लहर निरंतर प्रवाहित रहती है। उसके परिणामोंमें मिथ्यात्वका रंग चढ़जानेसे शरीरादि जड पदार्थमें ही आत्माकी कल्पना होती है। उसके ज्ञानमें अज्ञानता, उसकी श्रद्धामें मिथ्याभाव होते हैं। उसको भेद-विज्ञान नहीं होता है। सत्य पदार्थकी पहिचान ही नहीं होती है।

जिस प्रकार मदिरापान करनेवाले मनुष्यको ज्ञानकी विशुद्धि नहीं है, अपने स्वभावको भूल जाता है माताको स्त्री और स्त्रीको माता मानता है, विपरीत-भावको धारण कर अन्यथा श्रद्धान करता है। इसीप्रकार मोहनीकर्मके उदयसे जीव विपरीत भावों-को धारण करता है। शरीरको जीव मानता है। जीवको जड मानता है। जीवको कभी कभी मानता ही नहीं, जीवके स्वरूपमें

संशय और अज्ञान भावको धारण करता है। जीवके स्वरूपमें अतत्व-श्रद्धान करता है।

आत्माका स्वभाव या धर्म अरहंत भगवानके स्वरूपके समान अनंतचतुष्टय सहित राग द्वेषसे रहित-शरीरसे भिन्न है। आत्मा-का असली स्वरूप सिद्ध भगवानका है और कथंचित् अरहंत भगवानके समान है। इसलिये अरहंत भगवान और उनकी वाणी (क्योंकि जिनवाणीमें आत्माके सत्य-स्वरूपका लक्षण बतलाया है इसलिये जिनवाणी भी आत्माके असली स्वरूपकी प्राप्तिका मार्गप्रदर्शिका है) तथा अरहंत भगवानके-स्वरूपका आराधन करनेवाले-सिद्ध करनेवाले आचार्य—उपाध्याय—सर्वसाधुके श्रद्धान न कर विपरीतभावोंको धारण करना, अतत्व श्रद्धान करना, देवको अदेव मानना, गुरुको गुरु नहीं मानना, शास्त्रको मिथ्या समझना सो ये सब भावमोहनी कर्मके उदयसे जीवको होते हैं। इसी प्रकार अदेवमें देव-बुद्धि कुशास्त्रमें शास्त्रबुद्धि और कुगुरुमें गुरु बुद्धि—माननाभी मोहनीकर्मका कार्य है।

मोहनीकर्मके उदयसे आत्माके स्वभाव आत्माके स्वरूपमें आत्मा गुणोंमें-आत्माके भावोंमें-आत्माके परिणामोंमें-आत्माके ज्ञानमें-आत्माके सुखमें-आत्माके दर्शनमें विपरीत भाव हो जाता है। विपरीत श्रद्धान होता है विपरीत रुची होती है।

मोहनीय कर्मके उदयसे हिंसादि पापिष्ट-कार्योंमें जीव धर्म मानता है मलिनाचरणोंमें धर्म व नीति मानता है। त्याग-धर्ममें ग्लानि करने लग जाता है। क्रूर कर्मोंमें रुचि होती है।

जिस प्रकार पित्तज्वरवाला मनुष्य दुग्ध और शर्कराको कटुक मानता है और नीमको मधुर मानता है। उसी प्रकार मोहनी कर्मके उदयसे जीव पापकार्योंमें धर्म और पुण्य-कार्यमें अधर्म मानता है। जीवको अजीव मानता है और अजीवको जीव मानता है।

मोहनी कर्मके उदयसे ग्रहिल मनुष्यके समान स्वछंद प्रवृत्ति होती है। हिताहितका विचार नहीं होता है। सन्मार्ग और कुमार्गका परिज्ञान नहीं रहता है। धर्म अधर्मका विचार नहीं रहता है। देव कुदेवका विचार नहीं रहता है। सदाचार, कदाचारका विचार नहीं रहता है।

मोहनी कर्मके उदयसे उन्मादी मनुष्यके समान अनर्गलरूपसे मिथ्याचरण कर अपनेको सुखी मानता है। इसीलिये किसी प्रकार भी शरीरको सुख प्राप्त हो और उस शरीरके सुखसे आत्माको सुखी मानता है।

जिसके कोद्रवका तुष और कोद्रवके तंदुल (चावल) में भेदबुद्धि नहीं है। ऐसी श्रद्धा ऐसी प्रतीति वह सब मोहनीकर्मका ही फल है।

मोहनीकर्मके भेद

मोहनी कर्मके मुख्य दो भेद हैं—एक दर्शनमोहनी दूसरा चारित्रमोहनी। दर्शनमोहनीके तीन भेद हैं—मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व और सम्यक।

यद्यपि दर्शनमोहनीका एक मिथ्यात्व ही भेद है। तो भी

जैसे कोदोंको दलनेसे तीन भेद हो जाते हैं। कोदोंके चावल १ कोदोंके चावलका चूर्ण (भूसा) २ और कोदोंका तुष ३ इसी प्रकार दर्शनमोहनीके ही तीन भेद हो जाते हैं।

मिथ्यात्व कर्म जीवोंको अतत्वश्रद्धान कराता है पदार्थोंके स्वरूपमें यथार्थ श्रद्धान नहीं होने देता, आप्तागमगुरुकी प्रतीति नहीं होने देता। आत्मस्वरूपकी प्रतीति नहीं होने देना यह मिथ्यात्वकर्म है। वह कोदोंके तंदुल (चावल) के समान महान् मूर्च्छाभावको उत्पन्न करता है।

इसी मिथ्यात्वको अग्रहीत कहते हैं। अनादिकालसे मूर्च्छा परिणामोंको धारणकर पर-वस्तुमें अहंता और ममताभावको यह जीव इस मिथ्यात्वके प्रभावसे प्राप्त होता है इस मिथ्यात्वके बलसे ही जीव घोर अज्ञान भाव और तीव्रतम् कषायभावको प्राप्त होता है, नित्य-निगोदिया जीव इसी मिथ्यात्वके प्रभावसे एक श्वासमें अठारह बार जन्म-मरणको धारण करना है। अनादि-कालसे यह अग्रहीतमिथ्यात्व जीवोंको अनेक प्रकारके दुःख देता है

ग्रहीत मिथ्यात्व—कुदेव कुशास्त्र और कुगुरुओंकी कुसंगतिसे होता है वह भी मिथ्यात्वका ही भेद है ग्रहीतमिथ्यात्वके प्रभावसे जीवोंके परिणाम अनेक प्रकारसे विपरीत रूप होते हैं। अतत्व श्रद्धान स्वरूप होते हैं। एकान्त विपरीत-संशय-विनय आदि भेद इसी ग्रहीतमिथ्यात्वके हैं। सबसे भयंकर परिणाम कुशास्त्रोंके अध्ययन करनेसे जीवोंको होता है। कुशास्त्रोंके अध्ययनसे तत्काल ही मिथ्यात्वका असर आत्मापर होता है।

पश्चिमदेशकी [धार्मिक शिक्षा-विहीन] कुशिक्षासे मनुष्यों-के परिणाम कितने भयंकर हो रहे हैं। यह सबको प्रत्यक्ष विदित हो है। पश्चिम देशकी कुशिक्षाके कारण कोई तो शास्त्रोंको ही अप्रमाण मानता है। कोई उसको काट-छांट कर मनकल्पित विषय वासनासे शास्त्रोंको कलंकित बना रहा है। कोई धनके लोभसे शास्त्रोंमें संशय उत्पन्नके साधनोंको शक्तिभर प्रयत्न कर रहा है। कोई तीव्र मिथ्यात्वी शास्त्रोंमेंसे करणानुयोग प्रथमानुयोगको नहीं मानता है। चरणानुयोगको मान्यता दिखा-कर अपनी प्रतिष्ठा रखनेकेलिये लोगोंके सामने मिथ्या नाटक बनाता है। परन्तु चरणानुयोगको अमान्यकर विधवाविवाह जैसे व्यभिचार फैलाना चाहता है। कोई मूर्तिकोही नहीं मानना चाहता है—तीर्थंकर अरहन्त भगवान सर्वज्ञ नहीं थे मुहमंद पैगम्बरके समान साधारण ज्ञानी थे। पूर्वके जमानेसे तो इस समय अधिक विद्वान् मनुष्य होते हैं संसारमें सर्वज्ञ कोई हो नहीं सका? इस प्रकार अर्हंत तीर्थंकर भगवानके स्वरूपकोही माननेकेलिये ही तैयार नहीं है। कोई सुगुरु (निर्ग्रंथ गुरुओंको) कोही माननेके लिये तैयार नहीं है। सुगुरुओंकी निंदाकर कोई पेटार्थ जगतको अपने तीव्र मिथ्यात्वके उदयसे ठगना चाहता है। कोई शीलधर्म-को नष्ट करदेना चाहता है कोई अपनेको ब्रह्मचारी कहकर व्यभि-चारका मार्ग खोलता है और विषयवासनामें मग्न होता है उसमें मग्न होकर अनुभवानंद प्रकट करता है, कोई हिंसामें धर्म बतलाने लगा है, कोई वकील असत्य (झूंठ) में धर्म समझता है।

कोई जातिपाति उठाकर मोक्षमार्ग नष्ट करदेना चाहता, है, कोई मद्य मांस खानेकेलिए धर्म बतला रहा है, कोई असमर्थ गौ मनुष्यकी हिंसामें धर्म बतलाने लगा है। इस प्रकार पश्चिम देशकी कुशिक्षासे मिथ्यात्वकी वृद्धि होरही है इतनाही नहीं किंतु कुशिक्षाके प्रभावसे पुण्य-पाप-जीव-कर्म आदि समस्त बातोंमें नास्तिकता प्रकट रूपसे होरही है। इस प्रकार कुशिक्षासे जैनी कहलाने वाले और जैनकुलमें उत्पन्न हुये सुधारकोंकी ऐसी भयंकर दशा होरही है तीव्र मिथ्यात्वका भाव होरहा है तो अन्य साधारण जनताको कुशास्त्रोंकी कुशिक्षासे कैसा भयंकर परिणाम होता होगा यह अनुमान पाठकोंको स्वयं करलेना चाहिये। सदाचार और आचार विचार आदि तो प्रत्यक्षही लोप होजाते हैं इसलिये गृहीत मिथ्यात्वका कारण कुशास्त्रोंका अध्ययन और खोटे उपदेशोंका सुनना है।

संसारके जितने मत हैं वे प्राय. गृहीत मिथ्यात्वकेही रूपांतर है। श्वेताम्बरमत पाणनोमत-लुंकामत-आदि जैनाभासमत भी ग्रहीत मिथ्यात्वके रूपान्तर है। कितनेही सुधारक तीनों मतका एकरूप लाना चाहते हैं। वे असली तत्वका नष्टकर मिथ्यात्वका प्रचार करना चाहते हैं। या अपना मतलब बनानेके लिये भागीरथी प्रयत्नकर संसारसे सत्यधर्मका नाश करना चाहते हैं।

एकांतादि मिथ्यात्वका स्वरूप अन्य ग्रन्थोंमें विस्तारसेलिखा है। इसलिये यहांपर लिखनेकी आवश्यकता नही है।

(२) सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति—कोदोंके चूर्णके समान जीवोंके

परिणामोंमें मिथ्यात्वभावको उत्पन्न करती है। परन्तु इसकी तीव्रता मिथ्यात्वप्रकृतिके समान अत्यंत विषम नहीं होती है। कुछ मंद्रता लिये रहती है। इसीलिये यह सच्चे देव शास्त्र गुरुओंमें कचित कदाचित् प्रीत पूर्वक सेवन करता है। और प्रसंग पर मिथ्या देव, मिथ्या गुरु, मिथ्या धर्म और मिथ्या शास्त्रोंको सेवन करने लगजाता है परन्तु मिश्र प्रकृतिके उदयमें वैभाविक भावही रहता है इसमें सम्यग्दर्शनका लेशभी नहीं है।

जिस प्रकार दही और गुड मिलानेसे खट्टा मीठा मिश्रित स्वाद आता है। इसी प्रकार सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिके उदयसे जीवोंके परिणामोंमें सम्यग्मिथ्यात्व भाव होजाते हैं। जिससे यह अतत्त्व-श्रद्धान करता है।

सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिका कार्य सम्यग् नहीं कहा जाता है क्योंकि इसका परिणमन मिथ्यात्वकी तरफ प्रवाहित है विशेपता मिथ्यात्व तरफही लगी रहती है। इसीलिये इसको मिथ्यात्वमें ही संमिलित करते हैं। परन्तु मिथ्यात्वकी अपेक्षा इसमें कुछ मंद्रता है। तीव्र कटुकता नहीं है। चाहे तो यह अपने परिणामोंको सुधारकर मिथ्यात्व भावोंको दूरकर सका है।

कुशास्त्रोंके अध्ययनसे इस सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिके रसमें विशेष मिथ्यात्वका परिणमन होता है। कुशास्त्रोंके अध्ययनसे इस जीवकी मंद्रता नष्ट हो जाती है और मिथ्यात्वकी दृढ़ता बढ जाती है। संसारमें मिथ्यात्वकी वृद्धिका सबसे प्रधान कारण है तो एक कुशास्त्रोंका अध्ययन है। इससे धीरे धीरे बुद्धिमें विपरि-

णमन होने लगता है। परिणामोंमें मिथ्यात्वके संस्कारोंका असर जीवोंके भावोंको मिथ्यात्वकी तरफ खींच ले जाता है। उतना व्यापक प्रभाव कुदेव और कुगुरुका नहीं होता है कि जितना कुशास्त्रोंके अध्ययनसे होता है। बालककी कोमल बुद्धिमें तो कुशास्त्रोंके अध्ययनका फल तत्काल ही प्रकट होता है। इसका एक कारण है कि जैनधर्म निवृत्तिरूप है और अन्यमतके समस्त शास्त्र विषयवासनाओंकी प्रवृत्तिरूप हैं। इसलिये विषय-वासनाका रंग कुशास्त्रोंके अध्ययनसे मिथ्यात्वरूप चढ़ता है। जिनके दृढ संस्कार हैं जिनका कुल धर्म अकुशरूप सुदृढ है और जिनका श्रद्धान धार्मिक शास्त्रोंके अध्ययनसे जिनधर्मका श्रद्धा तरफ सुदृढ होगया है ऐसे मनुष्यके भावोंमें मिथ्याशास्त्रोंके अध्ययनसे कदाचित मिथ्यात्वरूप परिणमन हो जाता है तो संस्कार-विहीन साधारण मनुष्योंकी क्या बात? इसलिये अपक्ववयमें बालकोंको सबसे प्रथम धार्मिक शास्त्रोंका अध्ययन कराना चाहिये खासकर चरणानुयोगका अध्ययन तो सबको नियमसे करना ही चाहिये। वृद्ध और युवा मनुष्योंको अपने सम्यग्दर्शनको विशुद्ध बनानेकेलिये चरणानुयोग-प्रथमानुयोग और करणानुयोगका अध्ययन करना चाहिये। पदार्थोंको सम्यक् प्रकारसे जाने बिना और निश्चय व्यवहारनयका स्वरूप प्रमाण नय निक्षेप तथा अनु-भवके द्वारा जाने बिना केवल अध्यात्म ग्रन्थोंका अध्ययन नहीं करना चाहिये। अध्यात्म ग्रन्थोंका स्वाध्याय यदि विवेकपूर्वक किया जाय तोही सम्यक् परिणाम होता है। व्यवहारका लोप हो जानेसे सदाचार नष्ट हो जानेकी संभावना बनी रहती है।

(३) सम्यक् प्रकृति—कोदोंके तुपके समान सम्यक् प्रकृति जीवोंको सम्यक् श्रद्धानसे च्युत नहीं कर सकी। मिथ्यात्वरूप परणति नहीं कर सकी हैं जीवोंको तत्त्व रुचि होती है। सम्यक्-श्रद्धान भी होता है। सच्चे देव-शास्त्र-गुरु पर पूर्ण अविचल श्रद्धान होता है। भेद-विज्ञान भी होता है। जीवादिक पदार्थोंकी रुचि होती है। अहंता और महंता नष्ट हो जाती है। अज्ञानभाव दूर हो जाता है और सम्यक्भाव प्रकट हो जाता है परन्तु सम्य-क्त्वमें मलका उद्भवन होता है। पच्चीस प्रकारके मल (दोप) प्रकट हो जाते हैं। उन दोषोंके प्रभावसे आत्माके परिणामोंकी प्रवृत्ति असत्‌रूप अनायतन सेवनरूप हो जाती है इसीलिये इस प्रकृतिको मिथ्यात्वमें परिग्रहीत किया है।

पच्चीस दोषोंमेंसे कितने ही तो दोप ऐसे हैं कि जिनसे मिथ्यात्वके भाव तत्काल ही उदय होजाते हैं। जैसे देव-शास्त्र-गुरुका श्रद्धान करनेवाले जैन कुलोत्पन्न श्रावकको (सम्यग्दृष्टी) पदार्थोंका परिणमन सूक्ष्म होनेसे या कुशास्त्रोंके अध्ययनसे जैन धर्मके तत्वमें शंकाका होना, दूसरे जीवोंको धनादिक भोग संप-दासे सुखी देखकर पर-वस्तुमे आत्म-सुखकी भावना कर पर-वस्तुको चाहना, अन्य-मतके विद्वानोंके शास्त्रके चमत्कार-मंत्रके चमत्कार, राज्यादि विभूतिका लोप, स्त्री मिलनेकी आशा आदि कारणकलापोंसे अन्य मिथ्यामतको उत्तम माननेकी भावना या उनको उत्कृष्ट और सत्य-स्वरूप माननेकी भावना, इसीप्रकार लोक मूढतादि मूढताके कार्य ये सब दोप आत्माको मिथ्यात्वके सन्मुख करा देते हैं।

सम्यक्प्रकृतिसे चल मल और अगाढ दोषोंका सद्भाव भी माना गया है तो भी ठीक है। क्योंकि मलादिक दोषोंकी विशेष वृद्धि हो जावे तो मिथ्यात्वके सन्मुख आत्मा तत्काल ही हो जाता है चलमलिन अगाढ दोषोंसे सम्यग्दर्शनका घात नहीं होता।

आठ शंकादि दोष—छह अनायतन, आठ मद (अहंकार) और तीन मूढता ये पच्चीस दोष हैं। इन दोषोंसे सम्यक्त्वमें मल लगता है या सम्यक्त्व नष्ट होजाता है इनका विस्तार ग्रन्थोंमें बहुत किया है। परन्तु इन दोषोंका स्वरूप विवेक-पूर्वक जानना चाहिये अन्यथा धर्मके लोपकी संभावना या धर्मको कलंकित बनानेकी पृथा प्रकट हो जाती है जैसे जातिमद या कुलमद नहीं करना चाहिये क्योंकि मद पच्चीस दोषोंमे है। एक उत्तम कुल-वाला मनुष्य अपने कुलके गौरवको बढानेकेलिये मलिन आचरण नहीं करता है। भंगीके साथ खान-पान या रोटी बेटी व्यवहार नहीं करता है वह समझता है कि जो मैं भंगी आदि नीच मनुष्य-के साथ रोटी-बेटी व्यवहार करूंगा तो मेरा मोक्षमार्ग नष्ट हो जायगा मेरे उत्तम कुलकी पवित्रता मारी जायगी। मेरा सदाचार और आचार विचार नीच मनुष्योंके साथ रोटी-बेटी व्यवहार करनेसे मलिन होजायगे फिर मेरे कुलमें मुनिधर्मकी दीक्षा नहीं हो सकेगी ऐसी उच्च भावनासे वह अपने कुलके गौरवको रख रहा है तो उसको मद नहीं कहेंगे। पर-पदार्थको (आत्मबुद्धि) आत्मारूप जानकर अभिमान करना सो मद कहलाता है।

इसीप्रकार शंकादिक दोषोंको विचार-पूर्वक समझना चाहिये।

शास्त्रों द्वारा प्रतिपादित पदार्थके स्वरूपमें शंका करना और अपनी अंतर्दुष्टबुद्धिसे शास्त्रोंकी मिथ्या समालोचना करना यह सब मिथ्यात्व है, दोष नहीं है, दोषकी कोटि इससे विलक्षण होती है। शंकादोषवाले मनुष्यका सम्यक्त्व मलिन नहीं होता है नष्ट नहीं होता है। और इस प्रकारकी शंका कर समालोचना करनेवाले मनुष्यका हृदय मिथ्यात्वकी दुर्वासनाके कारण अनर्गलरूपसे दृढ मिथ्यात्वरूप होता है भले ही चाहे वह अपनेको जैन कहता रहे या जैनत्व बननेका मिथ्या ढिंढोरा पीटता रहे अथवा जैनकुलजानेका नाद बजाता रहे परन्तु वह तीव्र मिथ्यात्वी है।

इसीप्रकार अनुपगूहन दोषके स्वरूपमें विचार करना होगा। उपगूहन अंगका अर्थ यह है कि किसी असमर्थ या अज्ञानी मनुष्यसे धर्म या चारित्रमें ऐसा दूषण लग गया हो जिससे जैन-धर्म कलंकित होता हो या धर्मकी हंसी हो तो उस मनुष्यके दोषको ढक देना यह उपगूहन अंग है। इससे विपरीत साधर्मी भाईके या संयमी जनोंके दोषोंको प्रकट करना यह दोष है मल है इस दोष या मलके स्वरूपमें इतना ही वक्तव्य है कि संयमी या साधर्मी भाईसे यदि कोई दोष लग गया हो तो उसको एक बार समझाना चाहिये इस प्रकार तीन चार वारके समझानेपर भी वह अपने दोषको न छोडे ऋजु परिणाम न करे और सरलतासे धर्मकी विशुद्धि धारण न करे तो समाजको धर्मकी रक्षाकेलिये उसके दोषको प्रकट कर देना चाहिये उसको धर्म ठग समझकर जाति और धर्ममेंसे निकाल देना चाहिये।

वर्तमान समयमें कितने ही विधवाविवाहके लोभी ब्रह्मचारी-पदको कलंकित करनेवाले इसी प्रकार धर्मकी आड़में छुपे छुपे धर्मको कलंकित करनेके कार्य करते हैं, धर्मकी होनाचारता विधवाविवाह आदि द्वारा करते हैं और समझाने पर भी मानते नहीं, उनकी पोलको धर्म और समाजकी रक्षाके लिये प्रकट करदेना चाहिये। समाजमें ऐसे मनुष्योंको (धर्मठगोंको) रोटी नहीं देना चाहिये समाजमेंसे बहिष्कारकी घोषणा करदेनी चाहिये कारण ऐसे लोग देव-गुरु-शास्त्र और धर्मका अवर्णवाद करनेवाले घोर मिथ्यात्वी और समाजका बुरा अहित करनेवाले हैं। इस प्रकार पच्चीस दोष सम्यक्त्व प्रकृतिके उदयसे होते हैं परन्तु सम्यक्त्वके भाव सांगोपांग पूर्णरूपसे बनेरहते हैं।

समस्त कर्मोंमें मोहनीकर्मही प्रधान है समस्त कर्मोंका राजा है। समस्त कर्मोंकी शक्ति मोहनीकर्मके उदय होनेपर ही होती है। जो मोहनीकर्म नष्ट होजाय तो अवशेष समस्त कर्म स्वयमेव नष्ट हो जाते हैं। समस्त कर्मोंका जोर मोहनीकर्मके उदयमें ही है। मोहनीकर्ममेंसे दर्शनमोहनी कर्म बहुतही दुष्ट है सारा संसार दर्शनमोहनीकर्मके उदयमें ही अनन्तसंसार भ्रमण करता है जन्म मरणका दुःख दर्शनमोहनीकर्मके उदयमें ही है। इसलिये समस्त प्रकारके प्रयत्नोंसे दर्शनमोहनीकर्म (मिथ्यात्व) को त्याग करना चाहिए। मिथ्यात्वके समान कोईभी शत्रु नहीं है। मिथ्यात्वके समान अन्यकोई दुःखका प्रदान करनेवाला नहीं है। और संसारमें परिभ्रमणका कारण नहीं है। इसी बातका महत्व

आचार्यवर्य कुन्दकुन्दस्वामीने श्रीषट्पाहुडजीमें कहा है कि—
दंसण भट्ठा भट्ठा दंसण भट्ठाण णत्थि णिव्वाणं, सिज्झंति चरिय
भट्ठा दंसणभट्ठाण सिज्झंति। अर्थात् सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट हुए
मिथ्यात्वियोंका उद्धार नहीं है।

चारित्रमोहनी कर्मके भेद।

जो कर्म आत्माके चारित्रगुणको घात करे उसको मोहनी-
कर्म कहते हैं। चारित्रमोहनीकर्म दो प्रकार है—कषायचारित्र-
मोहनी और अकषायचारित्र मोहनी। कषाय चारित्रमोहनीके
१६ भेद हैं और अकषायचारित्रमोहनी कर्मके ९ भेद हैं। इस
प्रकार चारित्रमोहनी कर्मके २५ भेद हैं।

अनंतानुबंधी कषाय—जो कर्म अनंत मिथ्यात्वको उत्पन्न
करे या अनंतभवको अनुबंध करे उसको अनंतानुबंधी कहते हैं
और कषाय शब्दका अर्थ जो आत्माके भाव आत्माके ज्ञानादि
गुणोंको कृश करें, नष्ट करें अथवा धर्मक्षेत्रको कृश करे या
के उत्तमक्षमादि धर्मको नष्ट करे उसको कषाय कहते हैं।

जो कर्म अनंत मिथ्यात्वको उत्पन्नकर आत्माके उत्तमक्षमादि
धर्मोंका कृश करे आत्मामें उत्तमक्षमादि धर्म प्रकट नहीं होने देवे
अथवा अनंत संसारको बढ़ानेवाला बंध करे। आत्माके परिणा-
मोंमें तीव्र मोहका रंग चढ़ा देवे जिससे आत्मा अपने स्वरूपकोही
भास नहीं हो। आत्म विपरीत भावोंको धारण कर देवे,
ऐसी कषायको अनंतानुबंधीकषाय कहते हैं। यह कषायभी सम्य-
ग्दर्शनका घात कर देती है।

कषायोंमें अनंतानुबंधी कषाय महाविषम है। संसारी प्राणी इस कषायके वश होकर सम्यक्त्वसे च्युत हो जाता है, आत्माके स्वरूपसे गिर जाता है। योंतो कषाय मात्र दुःखदायी हैं परन्तु सबसे विषम कषाय अनंतानुबंधी है।

इस कषायके संबंधसे आत्माके परिणामोंमें क्रूरता अहंता (अभिमान) विषम मायाचारी और तीव्रतर लोभ होता है। अनंतानुबंधी क्रोधसे आत्माके परिणाम भयंकर होजाते हैं और उसके आवेशमें आकर आत्मा अपनी और दूसरे अनंतजीवोंकी हिंसा एक क्षणमें करलेता है। अपने शांत और क्षमा स्वभावको भूलकर संतप्त हो जाता है विचार शक्तिको खो बैठता है। विवेकको भूल जाता है और अपने आपेसे बाहर होकर हिंसादि क्रूरकर्म करने ा है। इस प्रकार अनंतानुबंधी कषायका बंध अनत संसार पर्यंत चला जाता है और तबतक आत्माके स्वरूपाचरण चारित्रको नाश करदेता है।

अनंतानुबंधी कषायका परिणमन दो प्रकार होता है। सबसे मुख्य परिणमन (रस विपाक) जीवको मिथ्याभावका प्रादुर्भाव होना और दूसरा परिणमन चारित्रको घात करना। इस प्रकार इस परिणमन आत्माके सम्यक्त्व गुण और चारित्र गुणका घात करना है।

वास्तविक विचार किया जाय तो अनंतानुबंधी कषायसे चारित्रगुणका ही घात होता है वह चारित्र स्वरूपाचरण चारित्र है। स्वरूपाचरण चारित्रका अर्थ आत्मस्वरूपकी प्राप्ति करें तो वह

सम्यक्त्वके रूपमें समावेश होगा। क्योंकि सम्यक्त्वगुणसे भी आत्मस्वरूपकाही प्रकाश होता है सम्यग्दर्शनके प्रभावसे आत्माके स्वरूपका श्रद्धान आत्माको होता है, आत्माका स्वरूप पुद्गलादि द्रव्यसे पृथक् ज्ञानदर्शनमय है इसप्रकारकी प्रतीति सम्यग्दर्शनके प्रभावसे आत्माको हो जाती है। इसीलिये सम्यग्दृष्टी जीव स्व में रुचि करता है और परको भिन्न मानता है। अपनी आत्माका स्वरूप सिद्धोंके समान पर-पदार्थसे सर्वथा भिन्न प्रतीति करने लगता है इसप्रकार पर-पदार्थसे भिन्न ज्ञानदर्शनमय आत्माका स्वरूप है। और उस स्वरूपमें स्थिर होना वही स्वरूपाचरण चारित्र है।

अनंतानुबंधी कषायके उदयसे जब स्वरूपाचरण चारित्र नष्ट हो जाता है। तब सम्यग्दर्शन आत्मामें किस प्रकार स्थिर रह सकता है। क्योंकि स्वरूपाचरण चारित्र और सम्यग्दर्शनका इन दोनोंका अविनाभाव संबध है और एक अभिन्न रूप अखंडपदार्थ है इस दृष्टिसे एकही लक्ष है एकही पदार्थ है और एकही वस्तु है। मात्र वक्तव्यकी अपेक्षा दो प्रकार है। ज्ञानदृष्टिसे चारित्रगुणकी अपेक्षा विचार किया जाय तो वह स्वरूपाचरण चारित्र चारित्र-अंशमें ग्रहण होगा, सम्यग्दर्शनसे पृथक् चारित्रगुणका (आत्मस्वभावमें स्थिरता रूप) फलेगा और सम्यग्दर्शनका विचार किया जाय तो स्वरूपाचरण आत्माका स्वरूप होनेसे आत्मरूपकाही रूप है और आत्माका रूपही सम्यग्दर्शन है। आत्मरूपकी रुचि, आत्मरूपकी प्रतीति, आत्मरूपकी श्रद्धाही सम्यग्दर्शन है। आत्माकी श्रद्धा जिस भाव रूप हुई है और जिस

स्वरूपमें स्थिर है उसको ज्ञानके द्वारा प्रकट करना अथवा जानना अनुभवमें लाना यह सम्यग्ज्ञान है।

सम्यग्दर्शनादि समस्त गुणोंका वक्तव्य ज्ञानगुण द्वाराही होता है इसलिये सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनोंही कथंचित् एक लक्षको ग्रहण करलेते हैं। परन्तु उसका प्रकाश वक्तव्य द्वारा तीन प्रकार हो जाता है फिर सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और चारित्र ये तीनों गुण भिन्न हैं। तीनोंही गुण एक साथ प्रकट होते हैं इसलिये तीनों गुणोंका परस्पर सहचर भाव है अपृथकता है। अभिन्नता है।

जिस समय मिथ्यात्वभाव दूर होता है उसी समय आत्मामें सम्यग्दर्शन गुण प्रकट हो जाता है। और सम्यग्दर्शनके प्रकट होनेसे आत्माका ज्ञानगुण (जो प्रथम मिथ्यात्वके योगसे विपरीत परिणमन करा रहा था, भावार्थ—मिथ्यात्वके योगसे ज्ञानगुणमें विपरीत प्रतिभास हो रहा था वह ज्ञान मिथ्यात्वभावके दूर होने पर) शुद्ध परिणमन (प्रतिभास) करने लगता है। सम्यग्दर्शनके साथही स्वरूपाचरण चारित्र होता है क्योंकि अनंतानुबंधी कषायके क्षय क्षयोपशम या उपशमके साथ साथ दर्शनमोहनीका क्षय या उपशम होनेसे प्रकट होता है इसलिये सम्यग्दर्शनके साथ २ सम्यक्चारित्रका होना आवश्यंभावी है। इसप्रकार सम्यग्दर्शन—सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों गुणोंका प्रकाश एक साथही होता है। इसलिये तीनोंको कथंचित् एकरूप कह सक्ते हैं। वास्तविक तीनों गुण भिन्न भिन्न हैं। और

दोनोंगुणोंके प्रकट होनेके कारण तीन भिन्न भिन्न हैं। सम्यग्दर्शनके प्रकट होनेका कारण मिथ्यात्वका अभाव है सम्यग्दर्शनके साथ २ ज्ञानावरणी कर्मका क्षयोपशम ज्ञानका है और मिथ्यात्वके अभावके साथ साथ अनंतानुबंधी कषायका (या क्षय) स्वरूपाचरणचारित्रका कारण है। मिथ्यात्वका अभाव अथवा अनंतानुबंधीका अभाव दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके लिये मूल कारण है।

अनंतानुबंधी क्रोध—जिस क्रोधका उदय पाषाणकी रेखाके समान भवांतरमें भी नाश न हो। भवांतरमें भी क्रोधका उदय बना रहे। कमठके समान कई भवतक उस क्रोध (वैर) की वासना नष्ट न हो। बराबर इसीप्रकार जाज्वल्यमान रहे। माणिक्यके समान सिंह सिंहके स्वरूपको धारण कर हत्यानाश करनेको उद्यत करे। अथवा मधुपिंगल राजाके समान भयंकर क्रोध (जो भवांतरमें सगर राजा और सुलसाके साथ वैर भाव रखकर जगतमें मिथ्यात्वका प्रचार किया पशुयज्ञकी प्रवृत्ति चलाकर अनंतजीवोंका नाश किया) भवांतरमें भी अनिष्टकर प्राणियोंको अनंत संसारमें भ्रमण कराता है।

पाषाणकी रेखा एकवार होजाने पर बहुत समय व्यतीत होने पर भी सहसा नष्ट नहीं होती है। इसीप्रकार अनंतानुबंधी क्रोधका उदय होजाने पर उसका वेग बहुत काल-पर्यंत बना रहता है। अनेक भव-पर्यंत उसका आवेश नष्ट नहीं होता है।

इस प्रकारका क्रोध मिथ्यात्वका उदय कराता है। और आ

त्माके गुणोंको बहुत कालपर्यंत आच्छादित करे रहता है। आत्मापर उसका असर भी तीव्रतर होता है जिससे आत्माके परिणामोंमें मूर्छाभाव सदैव जाग्रत बना रहता है। ऐसे क्रोधसे संयम और सदाचारके कार्य सर्वथा नहीं होते हैं किंतु वैर-भाव मत्सर-द्वेष-कलह द्वंद्व-लड़ाई मार काट-हिंसा, जीववध-आर्त रौद्र परिणाम और तीव्र यातना आत्माके परिणामोंमें बनी रहती है।

अनंतानुवंधी क्रोधके उदयसे असत् प्रवृत्ति, हिंसामय धर्मकी भावना, मांस मद्य मधुभक्षण और निंद्य आचरण जीवके हो जाते हैं।

जीवोंके वधमें वह सुख मानता है, जीववधमें वह अपनी भलाई मानता है और जीववधमें वह आत्मकल्याण समझता है।

अनंतानुवंधी मान—जिस मानका उदय पर्वतके स्तंभ समान भवांतरमें भी नष्ट न हो। अधिक कालपर्यंत वैसाही घमंड बना रहे वह अनंतानुवंधी मान कहा जाता है।

पर्वतका स्तंभ जिस प्रकार नम्रीभूत नहीं होता है, प्रयत्न करनेपरभी नम्रताको प्राप्त नहीं होता है ठीक इसी प्रकार अनंतानुवंधी मान भी अनुनय विनय और नम्र प्रार्थना करनेपरभी आत्माके परिणामोंसे मानका अंश नाशको प्राप्त नहीं हो—अनेक जन्मांतर पर्यंत वैसाही मानका उदय बना रहे। मनमें कोमलता प्राप्त न हो वह अनंतानुवंधी मान है।

अनंतानुवंधी मानसे जीव ऐसे कृत्य करता है कि जिससे

धर्मके कृत्योंमें बाधा हो जाती है। अधर्म और अनीतिका प्रचार ऐसे मानकर्मके उदयसे प्रायः होता है। संसारमें समस्त प्रकारके अनर्थोंकी जड ऐसा मान करना है।

रावणके सर्वस्व नाश करनेपर भी मानका अंश नष्ट नहीं हुआ। अनंतानुबंधी कषायके उदय होनेपर जीव पाप के कार्योंका ही प्रचार करता है। धर्मकी महिमाका नाश करता है, सदाचारकी पवित्रताके लोपका ही प्रयत्न करता है।

मान कषायके वशसे जीव शरीर और शरीरके सुंदर रूपको ही आत्मा मानकर उसको ही सर्वोत्कृष्ट सबसे महत्वशाली समझकर अपनाता है। और उसके लिये सर्व प्रकारकी वक्रता धारण करता है। सर्वश्रेष्ठ मानता है। इसप्रकार परपदार्थको ही आत्मा समझकर आर्त रौद्र परिणामोंको प्राप्त होता है।

अनंतानुबधी मानसे जीव अनंत जीवोंका वंध-व्यभिचार अन्याय-दुर्नीति जोरजुलम-अत्याचार और अनेक प्रकारकी आपदाको ऐसा करता है जिससे कि अपना और परप्राणोंका नाश कर देता है।

बाहु मुनिको ऐसा अभिमान हुआ था कि इस दुष्ट राजाने अपनी राज्य-सत्ताके अभिमानमें पांचसौ मुनिको घानीमें पेल दिया है देखें मेरे सामने उसका यह अभिमान कैसे रहता है ऐसा अपने मनमें अभिमानकर बाहुमुनि उस राजाकी राजधानी (नगर) में गये और राजाके स्वभावसे मानको प्राप्त हो क्रोधांध होगये जिससे राजा प्रजा और अपना नाशकर अंतमें सातवें नरक,रौरव

षिलमें गये।

इसलिये यह मान आत्माके संयम और सम्यग्दर्शनका नाशकर आत्माके गुणोंका घातकर आत्माको अनंत संसारी बनाता है।

मानके आठ भेद हैं। कुल १ जाति २ ज्ञान ३ प्रतिष्ठा ४ बल ५ ऋद्धि ६ तप ७ और शरीर ८ की सुंदरता इन आठ कारणोंसे आत्मा अभिमान धारण कर अपनेको श्रेष्ठ मानता है। पर-पदार्थाश्रित होनेवाली पर्यायोंमें आत्मबुद्धिको धारणाकर उस पर पदार्थकी पर्यायको श्रेष्ठ मानना यह मिथ्यारुचि है, मिथ्याज्ञानका परिणमन है। इस प्रकारके मिथ्यापरिणमनसे जीवोंको सद्विचार विवेक नीति और धर्ममर्यादाका ज्ञान नहीं रहता है, हिताहित मार्गका ज्ञान नष्ट होजाता है, धर्म अधर्मकी पहिचान नहीं होती है, भलाई बुराईका विवेक नही रहता है।

अनंतानुबंधी माया—इस मायाकर्मके उदयसे जीव वंशके मूल समान (जिस प्रकार वास (वेणु) की वक्रता बहुत ही जटिल होती है, परिणामोंकी वक्रता कुटिलता विश्वासघातहाको नहीं छोडता है। परिणामोंमें सरलताको प्राप्त नही होता है वह अनंतानुबंधी माया कषाय है।

वंशकी वक्रता संसारमें प्रसिद्ध है। भूलभुलैयाके वक्रको मनुष्य समझ सक्ता है और प्रयत्न करने पर उस वक्रताको दूर कर सक्ता है। परंतु वंशके मूलकी स्वाभाविक वक्रता किसीप्रकार नष्ट नहीं होती है। ऐसे ही जो मायाचारी जन्मांतरमें भी अपनी वक्रताको नहीं छोड़—परिणामोंकी कुटिलता—पाप प्रवृत्ति और

मनके मैलको नहीं छोड़े वह अनंतानुबंधी माया कषाय ।

मायाको शल्य माना है। मायाशल्यसे सम्यग्दर्शन और संयम-भाव दोनों ही सहसा नष्ट होजाते हैं।

इतना ही नहीं किंतु माया कषायके प्रभावसे आत्माके परिणाम सदैव कलुषित—दुष्टभावोंसे मलिन और अंतरंग भावोंकी दुर्बुद्धिसे एकदम काले बने रहते हैं।

परिणामोंकी गति विलक्षण होती है उसका ज्ञान सर्वज्ञ भगवानको ही होता है। दूसरे छद्मस्थ जीव दूसरे जीवोंके परिणामोंकी गतिको जान नहीं सक्ते हैं। ग्यारह अंग और नौपूर्वका पाठी भव्यसेन मुनि कैसा ज्ञानी था—उसके ज्ञानकी महिमा सर्वत्र प्रसिद्ध थी। भगवान कुंदकुंद स्वामी (जो कालिकालमें साक्षात तीर्थंकर तुल्य माने जाते हैं) के समयमें एक अंगका भी ज्ञान किसीको नहीं था तो ११ अंग और नव-पूर्वका पूर्ण ज्ञान होना कितनी ज्ञानकी उत्कृष्टता है। परंतु ऐसा ज्ञानी भव्यसेन मुनि अनंतानुबंधी मायाकषायके वशसे अनंत संसारी हुआ। उसके मायाचारके कुकृत्योंसे वह अभव्यसेन संज्ञाको प्राप्त हुआ।

क्रोध और मान यह ज्वलंत कषाय हैं परंतु मायाकषाय यह पानीकी अग्नि है क्रोध और मानसे भी मायाकषायका परिणाम अति विषम है। मायाकषायके परिणामोंमें एक प्रकारका ऐसा विष है जो शरीर और इन्द्रियोंमें कुछ भी विकार नहीं कर केवल एक आत्माके भावोंमें ही मूर्च्छाभावको लादेता है जिससे मनुष्य स्व-परविवेकको भूल जाता है।

की श्रद्धा सर्वथा नहीं है। इसलिये अनंतानुबन्धी माया अनंत संसारको ही बढानेवाली है।

अनन्तानुवन्धी लोभ—यह कषाय कृमि रागके समान मनुष्यको पर-पदार्थके लोभमें विवेकहीन बना देती है अनंतानुवन्धी लोभ कषायके उदयसे जीवोंके परिणाम मिथ्यात्वभावमें रंगित रहते हैं। अनतानुवन्धी लोभ यह मिथ्यात्वकी एक प्रकारकी पर्याय है। जिस जीवके मिथ्यात्वका उदय होता है उसके अनतानुवंधी लोभका अवश्य ही उदय है अथवा जिसके अनंतानुवधी लोभका उदय है उसके मिथ्यात्वकी सन्मुखता है। जीवोंके ममत्वपरिणाम (परपदार्थमें अहबुद्धि) अनंतानुवन्धी कषायके उदयसे निरंतर बनेही रहते हैं।

जिस प्रकार वस्त्रको रंगनेकेलिये कृमिका (हिरमिजीका) रंग चढा दिया जाय तो वह रग पक्का हो जाता है। धोनेपर भी नहीं जाता है। वस्त्रकी अंतिम अवस्था-पर्यंत रहता है इसीप्रकार अनंतानुवन्धी लोभ अनेक भवांतर पर्यंत भी अपनी वासनाको नहीं छोड़ता है।

रागद्वेष दोनोंमेंसे असलमें एक ही राग मुख्य माना है। रागको ही मिथ्यात्व कहा है और रागको ही जीतनेपर वीत-राग अवस्था प्राप्त होती है। रागका द्वेष प्रतिपक्षी है। एक वस्तुमें राग किया जाय तो इतर वस्तुमें द्वेष अपने आप हो जाता है। इसलिये एक राग ही समस्त संसारके बंधका कारण माना गया है रागको ही लोभ कहते हैं।

अनंतानुबन्धी लोभ कषायके उदयसे यह जीव शरीर धन संपत्तिमें अहंबुद्धि धारणकर यह मेरा यह मेरा यह मेरा इस प्रकार मेरे भावको धारणकर शरीर धन संपत्तिके लिये घोर हिंसा करता है झूंठ बोलता है। चोरी करता है। परस्त्री सेवन करता है और पापादिक आरंभकार्यमें ममत्व करता है इस प्रकार समस्त पापोंका मूल एक लोभकषाय ही है। "लोभ मूलानि पापानि" समस्त पापोंका मूल लोभ ही है।

अत्यन्त गृद्ध लोभके आधीन होकर मनुष्य धर्म कर्मको प्रत्यक्ष भूल जाता है भाई बन्धु और माता पिता गुरुजनोंको दुश्मन मान लेता है, आर्त्त रौद्र परिणाम करता है, अग्निमें पडता है। युद्धमें लड़कर मरता है, समुद्रमें गिरता है। आकाशमें उड़ता है और विषम आपत्तियोंको प्राप्त होता है ऐसा कोई भी पापकार्य नहीं है जिसको लोभी मनुष्य नहीं करता है।

जगतमें वैर विरोध विश्वासघात अन्याय और जोरजुलम सब लोभकषायके वशीभूत हो करना पड़ता है परन्तु सबसे भयंकर लोभ वह है जिससे प्राणी धर्म और सदाचारको छोड़कर स्वयं अधर्ममें पापकार्योंमें मस्त हो जाय व अन्य जीवोंको धर्ममार्ग छुडाकर अधर्ममें लगा देवे। कुदेव कुशास्त्र और कुगुरुकी प्रीति करा देवे।

आज कितने ही सुधारक लोभके वशीभूत होकर धर्मको ही नहीं छोड़ते हैं किन्तु मिथ्याधर्मको स्वयं सेवन करने लग जाते हैं कुशास्त्रोंको सत्य मानने लग जाते हैं और सत्यशास्त्रोंको

मिथ्या कहने लग जाते हैं। विलायती विद्वानोंके सामने गौ-के वचनोंको मिथ्या मानने लग जाते हैं यह सब लोभका ही परिणाम है।

कितने ही पदार्थ पंडित नटनीके समान जिधर रोटी उधर ही गीत गाने लगते हैं। धर्मको टकामें बेचते फिरते हैं। टकाके लिये वे सत्यधर्मकी निंदा करते हैं और मिथ्याधर्मको सत्य मानने लगते हैं यह लोभ अनंतानुबन्धी लोभ ही है।

जो मनुष्य लोभकेलिये हिंसामें धर्म बतलावे, झूंठ बोलनेमें धर्म बतलावे, व्यभिचारमें धर्म बतलावे, मांसभक्षणमें धर्म बत-लावे, निंद्य आचरणोंमें धर्म बतलावे। इसप्रकार अनीति और असदाचरणको जो मनुष्य धर्म कहकर भोले भाइयोंको पापकुंडमें पटके वह सब अनंतानुबन्धी लोभ है।

सुधारक लोगोंने धर्मको एक प्रकारका विचार माना है जिस विचारसे धन सम्पत्ति प्रतिष्ठा और यश मिले वही सच्चा धर्म है इस प्रकारके विचारसे धर्माधर्मकी परीक्षा किये बिना ही कुमा-र्गको धर्म मानकर (धन सम्पत्तिकी प्राप्तिकी आशासे) बड़ाई पूर्वक सेवन करने लग जाते हैं और दूसरे जीवोंको युक्ति प्रयुक्तिके द्वारा बड़े प्रलोभन देकर कुमार्गमें पटक देते हैं यह अनंतानुबन्धी लोभकी महिमा है।

अप्रत्याख्यानावरण चारित्रमोहनीकर्म

जिस कषायके उदयसे जीव देशसंयम (संयमासंयम)को धारण नहीं कर सके। परिणामोंमें ऐसी विशुद्धता प्राप्त नहीं हो जिससे

वह पापाचरण या दुराचार रोककर देशसंयमके योग्य शुभा-
ो धारण कर नहीं सका है।

संयमका अर्थ अशुभसे निवृत्ति और शुभमें प्रवृत्ति रूप बत-
लाया है। जिस कषायके उदयसे ऐसा स्थूल संयम धारण नहीं
हो सके और उसके योग्य भावोंमें विशुद्धता प्राप्त न हो सके।

अप्रत्याख्यान क्रोध—जिसके उदयसे जीव हलरेखाके समान
क्रोधको प्राप्त हो वह अप्रत्याख्यान क्रोध है।

जिसप्रकार हलकी रेखा कुछकालमें नष्ट हो जाती है। बहुत
काल पर्यंत नहीं ठहरती है। इसी प्रकार अप्रत्याख्यान क्रोध कुछ
काल पर्यंत जीवोंको अपना संस्कार बतलाता है। भवांतरमें
उस क्रोधका संस्कार नहीं होता है।

अप्रत्याख्यान क्रोधके उदयसे भी जीव युद्ध करता है वैर-
भाव धारण करता है। गृहस्थधर्मके योग्य आरंभ करता है
कलह करता है परन्तु उसका क्रोध नीति मर्यादाको नहीं छोड़-
ता है। धर्म-मर्यादाका उलंघन नहीं करता है वह जीववधमें धर्म
नहीं मानता है। मद्य मांस मधुका सेवन नहीं करता है इस-
प्रकार अनंतानुबन्धी क्रोध और अप्रत्याख्यान क्रोधमें बहुत भारी
भेद है। इस क्रोधके उदयसे सम्यग्दर्शन नष्ट नहीं होता है
किंतु नष्ट हो जाता है। कभी कभी पाक्षिक श्रावकके
योग्य संयमको पालन नहीं कर सका है।

अप्रत्याख्यान मान—जिसके उदयसे जीव हाडके समान
मानको प्राप्त होता है उसको अप्रत्याख्यान मान कहते हैं।

हाड़का स्तंभ जिस प्रकार प्रयत्नपूर्वक नम्र हो जाता है बहुत काल पर्यंत उसका बल नहीं रहता है। इसीप्रकार अप्रत्याख्यान मान कितने ही कारणकलापोंसे उदयको प्राप्त होता है तो भी नीतिका समय आ जानेपर वह मानको छोड़ देता है। अधातरमक नहीं जाता है।

अप्रत्याख्यान मान—शरीर, धन, ऐश्वर्य, विद्या, कुल जातिमें स्वात्मबुद्धिरूप अभिमान नहीं रखता है. स्वात्मबुद्धिका रखना यह अभिमान शरीरादिको स्वात्मरूप मानना है। जिनको परपदार्थमें अभिमानके वश स्वात्मबोध हुआ है ऐसे अभिमानसे वे सम्यग्दर्शनको खो बैठते हैं परन्तु अप्रत्याख्यान मान इतनी तीव्रता नहीं रखता है, आत्मपरिणामोंमें इतनी कलुषित वृत्ति नहीं करता है। अपने भावोंमे जडपदार्थों को आत्मरूप माननेका मिथ्याभिमान रखकर जडपदार्थोंको अपनाता नहीं है। जडपदार्थोंकी सुन्दरता या असुन्दरताको आत्माकी सुन्दरता या असुन्दरता नहीं मानता है। इस प्रकार अभिमान रखकर भी अप्रत्याख्यन मानकर्म आत्मश्रद्धाको धारणकर परको पर और आत्माको स्वात्मरूप मानकर जीवोंकी दयाका भाव रखना है।

अप्रत्याख्यान माया—जिसके उदयसे मेष (मैंढाके) शृंगके समान मायारूप परिणाम हो वह अप्रत्याख्यानमाया कषाय है।

मेषका सींग स्वभावसेही वक्र होता है। ऋजुता उसमें स्वभावरूपसे नही होती है तो भी प्रयत्न करनेपर वह ऋजुभावको धारणकर सका है और विशेष प्रयत्न किया जाय तो वह वक्रभावको शीघ्र-

ही छोड़ सका है वंशके मूल समान वक्रता इसमें नहीं रहती है। इसी प्रकार अप्रत्याख्यानमाया कषायमें इतनी तीव्र माया नहीं होती है। जो आत्माके परिणामोंमें सरलताका भाव जाग्रत ही नहीं होने दे। इस मायासे परिणमोंमें इतनी विशुद्धताका नाश नहीं होता है जिससे वह जडपदार्थको ही आत्मा समझकर वास्तविकरूपसे आत्माको समझे ही नहीं। और जड शरीरआदिकी पुष्टि या विषयवासनाको ही आत्मसुख मानकर मायाचारको धारण करे। अप्रत्याख्यान मायाचार जीवोंको कलुषित तो करता है। व्रतादिकोंको धारण करनेमें कभी कभी अपनी कायरता प्रदर्शित-कर देता है। और लोकव्यवहारमें मायाचारसे अपना काम भी निकाल लेता है। तो भी नीतिके घातको वह योग्य नहीं समझता है। भावांतरमें जाने लायक आत्माके परिणाममें मायाचारके भाव नहीं रखता है

अप्रत्याख्यान लोभ—जिस कषायके उदयसे कज्जलके रंगके समान आत्माके परिणामोंमें लोभकषायको जाग्रति हो वह अप्रत्याख्यानलोम-कषाय है।

कज्जलका रग, कृमिरंगके समान गाढा नहीं है अधिक समय पर्यंत असर नहीं रखता है कुछ समय बाद निकल जाता है। ठीक इसी प्रकार अप्रत्याख्यान लोभ आत्माके परिणामोंको ऐसा नही रंगता है जिससे कि जडपदार्थमें आत्माका लोभ या स्वात्म-रूप परिणाम अथवा ऐसा रागभाव हो। किंतु धनादिक संपत्तिको प्राप्तकर अपने जीवन साधनको निराबाध बनानेका प्रयत्न करता

है उसका त्याग उससे किंचित्मात्र भी नहीं है। त्यागबुद्धिके परिणाम भी नहीं होते हैं। तो भी अनीतिसे, इस प्रकार आनंदित नहीं होता है कि आत्मसुखकी प्रतीति हो।

अप्रत्याख्यान लोभ भवांतरमें जानेलायक तीव्रतम् रागभाव-को उदय नहीं करता है। तोभी बाह्य पदार्थकी ममता असाधारण होता है। अपनेको उनसे भिन्न जानता हुआ भी उनमें रुचि (राग) करता है। परिणामोंकी ऐसी ही खूबी होती है।

प्रत्याख्यानकषाय

जिस कषायके उदयसे जीवोंके परिणाम महाव्रतके धारण करने योग्य नहीं होते हैं।

प्रत्याख्यानक्रोध—जिस कषायके उदयसे बालुकाकी रेखाके समान क्रोध हो—वह प्रत्याख्यानक्रोध कषाय है। जिस प्रकार बालुकाकी रेखा स्वल्प समयमें नाश हो जाती है, अधिक समय तक नहीं रहती है। इसी प्रकार प्रत्याख्यानक्रोध कषायके परिणाम स्वल्प-समय पर्यंत रहते हैं। उन परिणामोंमें जीववध करनेकी भावना सर्वथा नहीं होती है दयाचारसे समस्तजीवों-की दया पालन करता है असदाचार अनीति—कुत्सित आचार विचार—और जिनधर्म विरुद्ध मलिनाचारको उत्पन्न करनेवाले क्रोधके भाव आत्मामें नहीं रहते हैं। परिणामोंमें विशुद्धता रहती है क्रोधका उदय होनेपरभी संकल्पभावोंसे जीवोंको नहीं मारता है न ऐसा वैरभाव धारण करता है जिससे संकल्पपूर्वक जीवोंका वध करना पडे या जैनधर्मके विरुद्ध मलिनाचार धारण करना

पड़े; तो भी क्रोधके परिणाम होते हैं। और उससे नाश ताडन आदि किया भी करता यह प्रत्याख्यान क्रोध है।

प्रत्याख्यानमान—जिस उदयसे जीव लकड़ीके समान मानकषायको प्राप्त हो वह प्रत्याख्यानमान कषाय है। जिस प्रकार लकड़ी सहज प्रयत्न करनेपर नम्र हो जाय—अधिक समय तक नहीं ठहरे। जिस मानके उदयसे जीव सर्व जीववधका प्रत्याख्यान नहीं कर सके। और आत्माके परिणामोंमें ऐसा अभिमान न हो कि जिससे नीति मर्यादा, धर्म मर्यादा और संयमकी मर्यादाका सर्वथा लोपकर देवे।

प्रत्याख्यान माया—जिसके उदयसे जीव गोमूत्रके समान मायाकषायको प्राप्त हो।

इस मायाचार भावसे जीव मुनिव्रतके चारित्र धारण करनेमें असमर्थ होता है; परन्तु गृहस्थके योग्य देशव्रत पूर्णरूपसे धारण कर सका है।

यद्यपि मायाकषाय परिणामोंमें वक्रता उत्पन्न करता है और उसमें परिणामोंकी ऋजुता प्राप्त नहीं हैं सरलता नहीं है। उतनी विशुद्धि नहीं है जिससे महाव्रत धारण करने योग्य अपनी आत्माको बना सके।

मायाचार कषायसे ढोंगरूप चारित्रको धारण होता हो। ऐसा माननेकी जरूरत नहीं है। मायाशल्य और मायाकषायमें बहुत ही भेद है; मायाकषाय (प्रत्याख्यान माया कषाय) का उदय शल्यके समान व्रतोंमें ढोंगको प्राप्त नहीं करता है। किंतु

व्रतोंके अतिचारआदि विषयमें परिणामोंकी उतनी विशुद्धता नहीं रखता हैं। कभी कभी प्रमादभावको प्राप्त कर देता हैं।

प्रत्याख्यानका मंदोदय श्रावकके समस्त व्रतोंको सावधान रूपसे परिपूर्ण रूप पालनेके लिये समर्थ होता है।

माया (प्रत्याख्यान) कषायके परिणाम भावोंकी वक्रतासे महाव्रतके परिपालन करनेमें असमर्थ होता है।

प्रत्याख्यानलोभ—जिस कषायके उदयसे जीव कर्दमके समान लोभ परिणामको धारण करे, वह प्रत्याख्यानलोभकषाय है।

कर्दमको धो डालनेसे वस्त्र अपने शुद्ध स्वरूपको सहज प्राप्त हो जाता है अधिक प्रयत्न करनेकी आवश्यकता नहीं होती है। और न विशेषकालकी जरूरत है कर्दमका रंग स्वल्प समयमें स्वभावसे उड जाता है। इसी प्रकार जो कषाय निर्ग्रंथरूप (समस्त प्रकारके ममत्वभाव समस्त पदार्थोंके मूर्च्छारूप परिणाम) सर्व प्रकारके परिग्रहत्यागरूप परिणामको नहीं होने देवे—वह प्रत्याख्यानलोभ-कषाय है।

असलमें चारित्रभावको (वीतरागभावको) धारण नहीं कर देनेकी शक्ति एक लोभकषायमें है। लोभ कषायसे ही पर-पदार्थमें रागभाव होता है। प्रत्याख्यानलोभकषायका उदय जीवोंको परिग्रह शरीर और धन कुटुम्बादिकोंसे सर्वथा ममत्वभावका त्याग (ग्रन्थका त्याग) नहीं होने देता है तोभी देशसंयमको घात नहीं करसका है।

परिणामोंमें विकृति—जितना लोभकषाय करता है। उतना क्रोध-मान-माया कषाय नहीं करता है।

संज्वलन कषाय—जिस कषायके उदयसे जीव संयमके साथ अंतरंग परिणामोंमें प्रमादादि दोषोंके द्वारा आत्मपरिणामोंको जलावे (संयमेन सह ज्वलंति संज्वलति) उसको संज्वलन कषाय कहते हैं।

अथवा जिस कषायके उदय होनेपर यथाख्यात चारित्रका ज्वलन हो यथाख्यात चारित्र प्रकट न हो वह संज्वलन कषाय है।

यथाख्यात चारित्रको घात करनेवाला संज्वलनकषाय है। महाव्रतादि धारण करनेमें किसी प्रकारकी बाधा नहीं होती है तो भी कर्मोंको दलन करनेमें समर्थ ऐसा यथाख्यातचारित्रको प्राप्त नहीं होता है।

संज्वलन क्रोध—जिसके उदयसे परिणामोंमें जलरेखाके समान क्रोध हो वह संज्वलनक्रोध है।

जलमें रेखा करनेपर तत्काल नष्ट हो जाती है। समय मात्रकीभी देरी नहीं लगती है। इसी प्रकार जो क्रोधका उदय होनेपर शीघ्र ही नष्ट हो जावे-और परिणामोंमें क्रोधकी वासना विशेष रसोत्पादक न हो। क्रोधके वशीभूत होकर अनिष्ट चिंतवन तक नहीं करे। क्रोधके वशीभूत होकर व्रत चारित्रको नष्ट नहीं कर देवे। महाव्रतमें किसी प्रकारकी न्यूनता धारण नहीं करे एवं परिणामोंमें जीव हिंसाके भाव-मृषालाप-कुशीलभाव परिग्रहकी तृष्णा आदि दुर्भावोंको नहीं धारण करे उसको संज्वलन क्रोध कहते हैं तोभी संज्वलनक्रोधके उदयसे चारित्रमें प्रमाद उत्पन्न हो तथा यथाख्यातचारित्र (कर्मोंको नाश करनेवाला) प्राप्त न हो उसको संज्वलनक्रोध कहते हैं।

संज्वलनमान—जिसके उदयसे जीवोंके परिणामोंमें लताके समान मानकषायको प्राप्त हो वह संज्वलन मान-कषाय है।

लताको नम्र करनेमें जरा भी देरी नहीं होती है लताको सरल करनेमें रंचमात्र भी प्रयत्न नहीं करना पड़ता है। तथा स्वल्पकाल का भी व्यवधान नहीं होता है। इसी प्रकार संज्वलन मानकषायके उदयसे जीवोंके परिणामोंमें ऐसी कठोरता नहीं होती है जिसके वशीभूत होकर वह सर्व जीवोंकी दया पालन करना ही छोड़ देवे। या जीव-वधकारक मिथ्याभाषण करे अथवा कुशील सेवनके भाव करे। संज्वलन मानकषायके उदयसे परिणामोंमें प्रमाद होता है। परन्तु महाव्रतको सांगोपांग पालन करता है। मानकषायके परिणामोंसे किसीका अनिष्ट नहीं विचारता है न आर्त रौद्ररूप परिणामोंको करता है।

संज्वलन माया—जिसके उदयसे जीवोंके परिणामोंमें धूलके समान वक्रता (कुटिलता) मायाचार हो वह संज्वलन माया-कषाय है।

धूलीकी वक्रता हवा लगते ही नष्ट हो जाती है। इसीप्रकार जो मायाकषाय उदय आते ही तत्काल नष्ट हो जावे, परिणामोंमें विशेष विकृतिको उत्पन्न नहीं करे, वह संज्वलन मायाकषाय है।

संज्वलन मायाकषायके उदयसे जीवोंके परिणामोंमें इतनी विशुद्धि नहीं होती है जिससे वे यथाख्यातचारित्रको धारण कर सकें। परंतु मायाकषायके उदयसे प्रमाद अवश्य होता है। महाव्रतको पूर्णरूपसे पालन करता है। उसमें वह ढोंग नहीं

करता है, किसी मायाचारसे स्वार्थसे महाव्रतका ढोंग नहीं करता है किन्तु परिणामोंमें आत्मकल्याणकी भावनासे ही महाव्रत पालन करता है। वह मायाचार परिणामोंसे किसीका अनिष्ट नहीं करता है, जीववध नहीं करता है।

संज्वलन लोभ—जिसके उदयसे जीवोंके परिणामोंमें हरिद्रा-रंगके समान लोभकषाय जाग्रत हो वह संज्वलन लोभ कषाय है।

हरिद्राका रंग विशेष काल पर्यंत नहीं रहता है और उसके दूर करनेमें विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ता है। इसीप्रकार जिस संज्वलन लोभकषायके उदयसे जीवोंके परिणामोंमें ऐसा लोभ होता है कि जिससे यथाख्यात चारित्र नहीं होता है।

यद्यपि महाव्रतको संज्वलन लोभकषाय नष्ट नहीं करता है तथापि महाव्रतके स्वरूपमें मानसीक प्रमाद उत्पन्न करता है। रंग लोभकषायका ही चढ़ता है। क्रोध मान माया आदिसे परिणामोंमें इतनी विकृति नहीं होती है जितनी कि लोभकषायसे विकृति होती है। परिणामोंमें मूर्च्छाभाव लोभ-कषायके उदयसे ही होता है फिर भी केवल संज्वलनकषायके उदयमें अतिमंद कषाय हो जाती है।

अकषाय चारित्रमोहनी कर्म

जिस कर्मके उदयसे जीवोंको अनंतानुबन्धी या प्रत्याख्याना-नुबन्धी आदि कषायके उदयके समान परिणामोंमें विकृति उत्पन्न न हो, चारित्रको घात करनेवाले भाव नहीं हों किंतु जीवोंके परिणामोंमें कषायके समान ही विशेष विशेष शक्ति और भावोंकी

विशेषताके परिणाम हों, जिससे आत्माके परिणाम   त संयमका घात करें या गृहस्थचारित्र और मुनिचारित्रमें भी विकल्पता उत्पन्न करें उसको अकषायचारित्रमोहनी कर्म कहते हैं।

कषायचारित्रमोहनी कर्मके भेद—क्रोध, मान, माया, लोभ जिसप्रकार चारित्रको घात करते हैं उसप्रकार अकषाय चारित्र मोहनी कर्म चारित्रकी विशेष शक्तिको नाश नहीं करता है तो भी आत्माके परिणामोंमें ऐसी विशेषता अवश्य ही उत्पन्न कर देता है जिससे प्रमाद और पर-पदार्थमें रतिभाव कुछ न कुछ रूपमें अवश्य ही हो जाता है।

ईषत् कषाय-नो कषायको अकषाय कहते हैं। यदि अकषाय-चारित्र मोहनी कर्मका उदय अप्रत्याख्यानकषायके उदयके साथ हो तो भिन्नरूप कार्य होगा। पर-पदार्थमें विशेष रागभाव होंगे और यदि प्रत्याख्यान कषायके साथ साथ अकषायचारित्रमोहनीका उदय है तो पुस्तक शिष्यादिकमे रागभाव होगा इसी प्रकार यथाख्यातचारित्रके कुछ अंशोंमे घात यह अकषायचारित्र मोहनी कर्म कर सक्ता है।

हास्यकर्म—जिस कर्मके उदयसे जीवोंके परिणामोंमें रागका कारण हास्य उत्पन्न हो उसको हास्यकर्म कहते हैं।

हास्यकर्मसे जीवोंको हँसी आती है। हास्यसे रागभाव होते हैं, रागभावसे प्रमाद होता है। पर-पदार्थमें रुचि और द्वेषभाव भी होते हैं। लड़ाईकी जड़ हंसी होती है। हास्यकर्म ईषत् कषाय है परन्तु हास्यके साथ साथ अन्य कषायका उदय हो जावे और

हास्यका उदय उसका निमित्त कारण हो जावे तो साधारण हास्य (अकषाय) कषायसे भी बड़े बड़े विप्लव हो जाते हैं।

जिसप्रकार खांसी रोगकी जड है उसीप्रकार हासी भी कषायके उदयकी जड़ है। इसलिये हंसी स्वतः तो इतनी हानि नहीं करती है परन्तु उसके उदयके साथ कषायों (क्रोध-मान-आदि) का उदय हो जावे तो अवश्य चारित्रमें हानि होनेकी संभावना रहती है।

पदार्थके स्वरूपपर हंसना यह एकप्रकारकी अज्ञानता है, अज्ञानपूर्वक रागभावमें हंसना यह अन्य कषाय भावोंको उदय करता है परन्तु पदार्थके स्वरूपको यथार्थ जानते हुए रागादिक भावोंको प्राप्त नहीं होकर हंसनेसे चारित्रका घात नहीं होता है। कभी कभी विचारक पुरुषोंको संसारकी दशा और जीवोंका अज्ञान देखकर हंसी आती है और वह हंसी संसारसे विरक्त भावोंको उत्पन्न करती है। इसलिये हास्यको ईषत् कषाय कहा है।

रतिकर्म—जिस कर्मके उदयसे जीवोंको द्रव्य, क्षेत्र, काल भावके निमित्तसे पुद्गल स्कंधोंमें रतिभाव हो वह रतिकर्म है।

पुत्र-मित्र-धन धान्य-भोगोपभोग और इतर पदार्थोंमें रागभाव प्रेमभावका होना सो द्रव्य रतिकर्म है।

उत्तम उत्तम क्षेत्र गृह-वसतिका जिनालय और तीर्थ आदिमें रतिभाव होना सो क्षेत्ररतिकर्म है।

सुखमय-शीतोष्णबाधा रहित प्रकृतिके अनुकूल कालमें रतिभाव होना सो कालरतिकर्म है।

शुभाशुभ-पदार्थोंके सेवन करने योग्य भावोंमें रति होना सो भावरतिकर्म है।

इस प्रकार रतिकर्म प्रेमभावको उत्पन्न करता है परन्तु दर्शन मोहनीकर्मके समान पर-पदार्थमें स्वात्म बुद्धि नहीं करता है। या अनंतानुबन्धी लोभकषायके समान संश्लेषरूप रागभाव नहीं होता है। अन्य पदार्थको अपनाना उसको आत्मरूप जानकर तन्मय होना ऐसा रागभाव रतिकर्मसे नहीं होता है वह कषाय-भाव या दर्शनमोहनीसे विपरीतभाव होकर होता है।

अरतिकर्म—जिसके उदयसे जीवोंको द्रव्य-क्षेत्र काल-भाव आदिके द्वारा पदार्थोंमें अरतिभाव-द्वेषभाव हो सो अरतिकर्म है।

विष शत्रु आदिमें द्वेष होना द्रव्यअरतिकर्म है। श्मशानभूमि-आदि मलिन भूमिमें अरतिभाव होना सो क्षेत्रअरतिकर्म है। शीत या उष्णकालमें द्वेष होना सो कालअरतिकर्म है। तप ध्यान-अध्ययन आदिके भावोंमें अरति होना सो भाव अरतिकर्म है।

शोककर्म—जिस कर्मके उदयसे जीवोंको शोकके परिणाम हों वह शोककर्म है।

भयसंज्ञा—जिस कर्मके उदयसे जीवोंको भय हो— क परिणाम हों वह भयसंज्ञा है।

जुगुप्सा—जिसकर्मके उदयसे जीवोंको किसी पदार्थसे ग्लानि घृणा उत्पन्न हो वह जुगुप्सा अकषाय चारित्रमोहनीकर्म है।

स्त्रीवेद—जिस कर्मके उदयसे जीवोंको पुरुषके साथ रमण करनेकी आकांक्षा हो वह स्त्रीवेद है

पुरुषवेद—जिस कर्मके उदयसे जीवोंको स्त्रियोंके साथ रमण करनेकी आकांक्षा हो वह पुरुषवेद है।

नपुंसकवेद—जिस कर्मके उदय से जीवोंके परिणामोंमें ईंटकी अग्निके समान पुरुष और स्त्री दोनोंके साथ रमण करनेकी आकांक्षा हो वह नपुंसकवेद है।

इस प्रकार मोहनीकर्मके २८ भेद हैं। समस्त कर्मोंमें मोहनी-कर्म ही बलवान है। समस्त कर्मोंका राजा है। समस्त कर्मोंका बल मोहनीकर्मके उदयमें ही है। मोहनीकर्मके अभावमें कोई भी कर्म विशेष बाधा नहीं पहुंचाता है और कितनेही कर्म मोहनी-कर्मके नाश होनेपर नाशको प्राप्त हो जाते हैं। इसलिये मोहनी-कर्म ही समस्त कर्मोंमें बलवान है। दूसरे मोहनी कर्मका कुछ अंश—दर्शन मोहनीकर्मका उपशम या क्षयोपशम ही जब आत्म-स्वरूपको प्रकट करदेता है, अनादि कालके अज्ञानको भगा देता है और अनंत संसारका अंत ला देता है तो फिर इसकी (मोहनी कर्मकी) पूर्ण शक्तिका क्या अनुमान लगाया जाय।

आयुकर्म

जिसप्रकार शृङ्खलामें बद्ध कैदीके समान एक अवस्थामें कालकी मर्यादासे रहना पडे। अथवा कठहरामें पावोंको प्रवेशकर देनेपर वह मनुष्य अन्यत्र जानेमें सर्वथा असमर्थ होता है इसी-प्रकार जिस कर्मके उदयसे जीवको एक पर्याय (एक अवस्था) में कालकी मर्यादासे नियमितरूप स्थिति करना पडे उसको आयु कर्म कहते हैं।

नरक आयुकर्म—जिस कर्मके उदयसे जीवोंको नरक पर्यायमें कालकी मर्यादासे स्थिर करे वह नरकायु कर्म है।

तिर्यग्गति आयुकर्म—जिस कर्मके उदयसे जीवोंको तिर्यग्गति (तिर्यग्गति पर्याय) में स्थिर करे वह तिर्यग्गति आयुकर्म है।

मनुष्य आयुकर्म—जिस कर्मके उदयसे जीवोंको मनुष्य पर्यायमें कालकी मर्यादासे स्थिर करे वह मनुष्य आयुकर्म है।

देवायुकर्म—जिस कर्मके उदयसे जीवोंको देव पर्यायमें कालकी मर्यादासे नियमित रूपसे स्थिर रखे वह देवायु नामकर्म है।

यद्यपि मोहनीकर्म सबसे बलवान है तो भी आयुकर्मकी बलवती गति कुछ कम प्रबल नहीं है। केवलज्ञान उत्पन्न होनेपर भी आयुकर्मसे सकल परमात्माको भी जब तक आयुकर्म बाकी है तब तक ठहरना ही पड़ता है। केवलसमुद्घात आयुकर्मसे ही होता है।

जीवोंको नरक आदि पर्यायमे आयुकर्म जब तक पूर्ण न हो जावे तब तक समस्त प्रकारके भयंकर दुःखोंको सहन करता हुआ भी जबरन उस पर्यायमें नियमसे रहना पडता है। एक क्षणमात्र भी अपना बल आयुकर्म नहीं छोड़ता है। इसलिये आयुकर्मकी प्रधानता है।

आयुकर्मका जब तक बंध है तब तक संसार है। आयु कर्मके बंधके अत्यन्ताभावको ही मोक्ष कहते हैं।

नामकर्म

जो कर्म अपने उदयसे जीवोंको चित्रकारके समान अनेक

अनेक प्रकारके (चित्रोंके समान) रूप रूपान्तरको बनावे। अनेक प्रकारकी पर्यायको धारण करावे। विविध प्रकारकी अव-स्थामें प्राप्त हो वह नामकर्म है।

चित्रकार जिसप्रकार बाघ-सिंह-गौ-मनुष्य-देव—नारक आदि आदि अनेक प्रकारके चित्र बनाता है। उसीप्रकार नामकर्म गौ बाघ-मनुष्य-हाथी-चीटी-सर्प कुबड़ा आदि अनेकप्रकारका आकार बनाता है।

सब कर्मोंसे नामकर्मकी विचित्रता बहुत आश्चर्यजनक है। संसारकी रचना नामकर्मकी रचनाको देखकर दंग होना पड़ता है। संसार है क्या ? नामकर्मकी नाट्यशाला है, नामके उद-यसे जीवोंको अनेक प्रकारके स्वांग (रूप) धारण करने पड़ते हैं।

जिस प्रकार नाट्यशालामें राजा आदिका विविधभेष मनुष्य धारण करता है इसीप्रकार संसाररूपी नाट्यशालामें यह प्राणी नामकर्मके उदयसे विविधप्रकार विचित्र स्वांग धारण करता है। इन स्वांगोंको देखकर ही कितने अज्ञ मनुष्योंने ईश्वरको सृष्टिकर्ता माना। कितने ही मूर्ख लोगोंने नामकर्मकी विचित्रता देखकर ईश्वरका ही समस्त रूप माना। कितने ही मूर्ख लोगोंने जीवकी सत्ताका अभाव माना इसप्रकार नामकर्मकी विचित्रताका कुछ भी पार न पाकर संसारके भोले जीव अपनी अज्ञानतामें संसारमें मोहके वश हो जाते हैं।

नामकर्मकी विचित्रतापर सचमुच संसारके प्रत्येक विद्वा-नको आश्चर्य आये बिना रहता नहीं है। एक मनुष्यके दो मुख

नामकर्मके उदयसे उत्पन्न हुए। इन दो मुखवाले मनुष्यको देखकर विधाताकी करतूत मानकर कितने ही आश्चर्य करते हैं कितने ही दूसरे प्रकार विचार करते हैं।

नरकगति—जिस कर्मके उदयसे जीवोंको दुःखपूर्ण नरक गतिमें जन्म लेना पडे उसको नरकगति कहते हैं। नरक आयुकर्म और नरकगति नामकर्ममें यही भेद है कि नरकायु कर्मके बंध होने पर जीवोंको नरकगतिमें अवश्य जाना ही पडे परंतु नरक-गति कर्मके बंध होनेपर नरकगतिमें जाना ही पडे ऐसा नियम नहीं है। क्योंकि गतिकर्म-बंध प्रत्येक समयमें होता है और निर्जरा रूपमो होता है। जो गतिकर्म आयुकर्मके साथ बंध हो तो वह गतिकर्म नियमित रूपसे फल देता है? अन्य बंधे तो वह बिना फल दिये ही खिर जाता है।

तिर्यंगति नामकर्म—जिस कर्मके उदयसे जीवोंको तिर्यंच् गतिमें जन्म लेना पडे वह तिर्यंगति नामकर्म है। इससे पशु-पर्याय-घोडा ऊंट हाथी गौ आदिकी पर्याय प्राप्त होती है।

मनुष्यगतिनामकर्म—जिस कर्मके उदयसे जीवोंको मनुष्य-पर्यायमें जन्म लेना पडे वह मनुष्यगति नामकर्म है।

देवगति नामकर्म—जिस कर्मके उदयसे जीवोंको देवपर्याय-में जन्म लेना पडे वह देवगति नामकर्म है।

जो गति नामकर्म न हो तो जीव अगति स्वरूप (परिभ्रमण रहित) हो जावे। गति नामकर्मके प्रभावसे ही जीव समस्त पर्यायोंमें गति करता है।

पंचेन्द्रिय जीवोंकी पर्यायमें जन्म लेना पड़े-वह पंचेन्द्रिय जाति नामकर्म है जैसे मनुष्यका जीव। गौका जीव।

शरीर नामकर्म—जिस कर्मके उदयसे जीवोंको शरीर धारण करना पड़े—स्पर्श गंध वर्ण रस रूप पुद्गलकी पर्यायको धारण करना पड़े वह शरीर नामकर्म है। यद्यपि शुद्धनयसे जीव शुद्ध बुद्ध ज्ञायकत्वमात्र निरंजन-निर्विकार-निर्देह-अशरीरी-अमूर्तिक है तो भी शरीर नामकर्मके उदयसे जीवको मूर्तिमान बनना पड़ता है। जो शरीर नामकर्म न माना जाय तो जीवके शुद्ध और अशुद्धमें दो भेद नहीं रहे। सर्व जीव मुक्त अवस्थामें रहे।

औदारिक नाम शरीर-जिस कर्मके उदयसे जीवको सप्त धातु और सप्त उपधातुमय अथवा अन्य प्रकार भी मनुष्य तिर्यंचका शरीर प्राप्त हो वह औदारिक शरीर नामकर्म है। जैसे गौका शरीर मनुष्यका शरीर और वृक्ष वनस्पतिका शरीर।

वैक्रियक शरीर नामकर्म-जिस कर्मके उदयसे जीवको देव नारकीकी पर्यायमें अनेक विक्रियावाला शरीर प्राप्त हो वह वैक्रियिक शरीर नामकर्म है। देव अपने शरीरका रूप लघु महान् आदि अनेक प्रकारका कर सकते हैं। इनके असंख्य भेद हैं। तो भी पृथक् विक्रिया अपृथक् विक्रिया ऐसे दो भेद हैं।

ऋद्धि और विक्रियामें भेद है। ऋद्धि मनुष्य पर्यायमें मुनीश्वरोंको होती है। वैक्रियिक शरीर देव नारकी जीवोंके होता है। औदारिक शरीरमें भी विक्रिया होती है। परन्तु तपकी शक्तिसे। समुद्धात और विक्रियामें भेद है। समुद्धातको वैक्रियिक शरीर

नहीं पड़ते हैं। परन्तु विक्रियाके रूपके समान प्रतिभास होता है।

आहारक शरीर—जिस कर्मके उदयसे छट्टे गुणस्थानवर्ती मुनिराजके संशयको दूर करनेके लिये परमशुभ परम सूक्ष्म अव्याघाती शरीर उत्पन्न हो वह आहारक शरीर नामकर्म कहलाता है।

तैजसशरीर नामकर्म—जिस कर्मके उदयसे मुनियोंको तथा सर्वसाधारण जीवोंका शुभा-शुभात्मक-शुभाशुभ करने वाला परम सूक्ष्म-अव्याघाती जो शरीर उत्पन्न होता है वह तैजस शरीर नाम कर्म है।

कार्मणशरीर नामकर्म—जिस कर्मके उदयसे जीवोंको कर्मपिंडमय समस्त कर्मवर्गणाका प्रचय (जो इस जीवने बद्ध किये हैं जो आठ कर्ममय हो रहे हैं) को कार्मण शरीर नामकर्म कहते हैं।

आंगोपांग नामकर्म-जिस कर्मके उदयसे जीवोंके हाथ पैर शिर आदि अंग उपांगकी रचना हो वह आंगोपांग नामकर्म है। यह तीन प्रकार होता है। औदारिक आंगोपांग, वैक्रियिक आंगो-पांग, आहारक आंगोपांग।

जिस कर्मके उदयसे औदारिक शरीरमें मस्तक पीठ बाहु आदि आंगोपांगकी रचना हो वह औदारिक आंगोपांग नामकर्म है। इसी प्रकार वैक्रियिक और आहारिक शरीरमें अंगोपांगकी रचना होना सो क्रमसे वैक्रियिक और आहारिक शरीरांगोपांग नामकर्म है। अंग आठ हैं और उपांगके अनेक भेद हैं। नासिका ललाट आदि उपांग हैं।

निर्माण कर्म—जिस कर्मके उदयसे जीवोंको अपने अपने शरीरमें योग्य स्थानोंपर चक्षु आदि इन्द्रियोंकी रचना हो वह निर्माण नामकर्म है। यह दो प्रकार माना है। स्थान निर्माण, प्रमाण निर्माण। शरीरके जिस भागमें जिस अवयवमें जिस स्थानमें जो इन्द्रिय और कायकी रचना चाहिये वह वहांपर ठीक ठीक हो वह स्थान निर्माण है। और वह रचना जितने माप जैसी छोटी बड़ी सुन्दर होनी चाहिये वेसी हो उसको प्रमाण निर्माण कहते हैं। निर्माण कर्मके फलसे नासिकाकी नासिकाके स्थानमें रचना होती है, कानके स्थानमें नासिका नहीं होती है। इसी प्रकार जो नासिकाका प्रमाण लम्बाई चौडाई रूप माप होना चाहिये वेसी रचना होती है। जो यह कर्म न होता तो जीवोंकी नासिकाके स्थानमें कान और कानके स्थानमें नासिका हो जाती। तथा विषमरूप अवयव वन जाते। अवयवोंकी स्वजातीयता कायम नहीं रहती है।

वधन नामकर्म—इस कर्मके उदयसे जीवने जो पुद्गल वर्गणायें ग्रहण की हैं जिससे जीवोंका शरीर वना है उस शरीरमें पुद्गल वर्गणाओंका परस्पर संश्लेष संबन्ध होकर शरीर रूप वंधन वरावर वंधरूपमें हो पुद्गल परमाणु भिन्न भिन्न रूपमें इतस्ततः (इधर उधर) छूटे छूटे विखरे रूप न हों वह वधन नामकर्म हैं। जो यह वंधन नामकर्म न हो तो शरीरके अवयव वालुकाके समान बिखरे रूप हो जाते हैं। यह वंधन कर्म पाच प्रकारके हैं। औदारिक वंधन नामकर्म, वैक्रियिक वंधन नामकर्म, आहारक वंधन नामकर्म, तैजस वंधन नामकर्म, कार्मण वंधन नामकर्म,

२—निग्रोधपरिमंडल संस्थान नामकर्म—जिस कर्मके उदयसे जीवोंको निग्रोध वृक्षके समान नाभिके ऊपर भागमें बहुसंख्यक परमाणुकी रचना हो, ऊपरका भाग अधिक विस्तारवाला हो और नाभिके नीचेका भाग अल्प परमाणुकी रचना रूप ह्रस्व हो अथवा गोल आकारका हो वह निग्रोधपरिमंडलसंस्थान नामकर्म है।

३—स्वातिसंस्थान नामकर्म—जिस कर्मके उदयसे जीवोंको वामीके आकार या शालमली वृक्षके समान नाभिके नीचेके भाग अतिशय विशाल हों और ऊपरका भाग ह्रस्व हो ऐसे आकार वाले शरीरकी प्राप्ति हो वह स्वातिसंस्थान नामकर्म है।

४—वामनसंस्थान नामकर्म—जिस कर्मके उदयसे जीवोंको ऐसे शरीरकी प्राप्ति हो कि जिसमें समस्त शरीरके आंगोपांग वा अवयव एकदम ह्रस्व हों। जिस कालमें जितना शरीरका प्रमाण जिनागममें बतलाया है उससे ह्रस्व देखनेमें आश्चर्यरूप शरीरकी प्राप्ति हो वह वामनसंस्थान नामकर्म है।

५—कुब्जकसंस्थान नामकर्म—जिस कर्मके उदयसे जीवोंके शरीरमें (पीठमें) पुद्गलोंका स्कंधरूप एक कुबड़ा आकार हो जिसको व्यवहारमें कुबडा कहते हैं वह कुब्जकसंस्थान नामकर्म है।

६—हुंडकसंस्थान नामकर्म—जिस कर्मके उदयसे जीवोंके विन्न विचित्र बीभत्स आकारवाला हुन्डके समान (नारकादि पर्यायमें प्राप्त) सर्व आंगोपांग हुडके आकार वाला शरीर प्राप्त हो वह हुन्डक संस्थान नामकर्म है।

७ संहनन नामकर्म—जिस कर्मके उदयसे जीवोंको ऐसा शरीर प्राप्त हो जिसमें कि हाड संधि-मज्जा मेदा नसा शिराकी रचना हो। यदि संहनन नामकर्म नहीं माना जाय तो हाड-शिरा नसा वीर्य आदिकी रचना नहीं हो सकती यह संहनन नामकर्म छह प्रकार है।

१—वज्रवृषभनाराचसंहनन—जिस कर्मके शुभोदयसे जीवोंको वज्रकी अस्थि वज्रका वेष्टन (हाडोंको बांधने वाला) और कीलिका हो वह वज्रवृषभनाराचसंहनन नामकर्म है। इससे शरीरकी रचना सुदृढ होता है। घोर उपसर्ग आने पर भी शरीरके विषयमें किसी प्रकार भय नहीं होता है। घोर परीषह सहन करनेमें यह शरीर समर्थ होता है। शरीरमें इससे इतनी जबरदस्त शक्ति होती है कि ध्यानका मुख्य साधन यह शरीर होता है साधारण अस्त्र शस्त्रोंसे भी व्याघात रूप नहीं होता है।

२—वज्रनाराचसंहनन नामकर्म—जिस शुभ कर्मके उदयसे जीवोंको वज्रमय अस्थि (हाड) और वज्रमय कीलिका वाला शरीर प्राप्त हो। यह भी ध्यानके लिये उपयोगी है।

३—नाराचसंहनन—जिस कर्मके उदयसे जीवोंको कीलिका वाला और वेष्टनवाला शरीर प्राप्त हो वह नाराच संहनन कहलाता है। इस संहननके शरीरमें हाडोंकी प्रत्येक संधिस्थानमें वेष्टन होता है जिससे अस्थि और अस्थिके मुडनेके प्रदेश मजबूत वेष्टनसे वेष्टित रहते हैं।

४—अर्द्धनाराच संहनन—जिस कर्मके उदयसे जीवोंको ऐसा शरीर प्राप्त हो कि जिसमें हाडोंकी संधिस्थानोंमें आधा तो वेष्टन

हो और आधा भाग शिरा मेदा या मांससे चिपका हो।

५—कीलिकासंहनन—जिस कर्मके उदयसे जीवोंको हाडों की प्रत्येक संधिमें कीलिका सहित शरीर प्राप्त हो।

६—असंप्राप्तासृपाटिका संहनन—जिस कर्मके उदयसे जीवों के शरीरमें अस्थिबंध अस्थिसंधिबंध और शिराबंध स्नायु मांस और त्वचासे संघटित हो। हाडोंकी संधियां हाडोंकी वधियोंसे वेष्टित न हो। कीलिसहित न हो किन्तु स्नायुमात्रसे लपटे हो या मास तथा त्वचासे सबंधित हो वह असंप्राप्तासृपाटिकासंहनन हैं। यह पाप कर्मके उदयसे जीवोंको प्राप्त होता है।

ध्यान छह संहननोंसे हो सकता हैं। परन्तु कर्मोंको दग्ध करनेवाला और घोर उपसर्ग सहन कर ध्यानमें स्थिर रहनेवाला पहला सहनन है। दूसरा तीसरे संहननवाला भी अंतर्मुहूर्त पर्यंत ध्यान एक साथ कर सक्ता है। परन्तु कर्मोंको निर्मूल करने लायक ध्यान नहीं होता है।

चौथा—पाचवा संहनन धर्मध्यानको धारण करता है यथासाध्य उपसर्गोंको सहन कर सकता है। परन्तु घोर उपसर्ग या परीषह जीतनेमें असमर्थ होता हैं।

छट्टा संहनन—धर्मध्यानके योग्य होता हैं परंतु उपसर्ग या परीषह सहन करनेमें सर्वथा असमर्थ होता है इस संहननसे परीषह और उपसर्ग सर्वथा जीते नहीं जाते हैं पंचमकालमें यह संह-नन होता है। इस संहननको धारण कर मुनि हो सक्ते हैं तप-श्चरण कर सक्त हैं अट्ठावीस मूलगुण पालन कर सक्ते हैं।

कर्मभूमिकी स्त्रियों, आदिके तीन संहनन नहीं होते हैं इस-लिये स्त्रियोंका कर्मके करनेयोग्य ध्यान नहीं होता है इसीलिये स्त्री पर्यायमें मोक्ष सर्वथा नहीं होती है।

स्पर्शनामकर्म—जिस कर्मके उदयसे शरीरमें स्पर्श हो वह स्पर्शनाम कर्म है यह आठ प्रकार है।

१—जिस कर्मके उदयसे गले कपोल शिर-छाती आदि प्रदेशमें कर्कशता हो उसको कर्कश स्पर्श कहते हैं।

२—मृदुल स्पर्श—जिस कर्मके उदयसे मयूरपिच्छ आदिके समान कोमल स्पर्श हो वह मृदुस्पर्श नामकर्म है।

३—गुरुस्पर्श-जिस कर्मके उदयसे जीवोंको लोह आदि धातु के समान गुरुस्पर्श हो वह गुरुस्पर्श नामकर्म है।

४—लघुस्पर्श-जिस कर्मके उदयसे जीवोंका अर्कतूलके समान लघुस्पर्शके समान बहुत हलका स्पर्श हो, वह लघु स्पर्श है।

५—स्निग्धस्पर्श—जिस कर्मके उदयसे जीवोंको तिलके समान स्निग्धता लिये स्पर्श हो वह स्निग्धस्पर्श है।

६—रूक्षस्पर्श—जिस कर्मके उदयसे जीवोंको बालुकाके समान रूक्षस्पर्श हो वह रूक्ष स्पर्श है।

७—शीत स्पर्श—जिस कर्मके उदयसे जीवोंको जलके समान शीतस्पर्श हो वह शीतस्पर्श है।

८—उष्णस्पर्श—जिस कर्मके उदयसे जीवोंको अग्निके समान उष्णस्पर्श हो वह उष्णस्पर्शनाम है।

ये आठ प्रकारके स्पर्श शरीरमें प्राप्त होते हैं। और इनका

परिज्ञान इन्द्रियों द्वारा जीवोंको प्राप्त होता है। इस प्रकार कारण कार्य रूप स्पर्श, स्पर्शनामके उदयसे जीवोंको प्राप्त होना है।

स्पर्शनाम कर्मका अभाव रह नहीं सके है क्योंकि स्पर्शका सद्भाव सर्वत्र है। आठ प्रकारका स्पर्श सर्वत्र दृश्यमान है।

रस नामकर्म—जिस कर्मके उदयसे जीवोंके शरीरमें पांच प्रकारके रसोंमेंसे कोई प्रकारका रस प्राप्त हो वह रस नामकर्म है।

१—तिक्तरस नामकर्म। जिस कर्मके उदयसे जीवोंको अदरख आदिके समान तिक्तरसवाला शरीर प्राप्त हो वह तिक्तरस नामकर्म है कार्मण पुद्गल परमाणुका तिक्तरस रूप शरीरमें परिणमन होता है। हरी मिरच आदि वनस्पतिके जीवोंके शरीरमें तिक्तरस है।

२—कटुकरस नामकर्म—जिस कर्मके उदयसे जीवोंको नीम आदिके समान कटुकरसवाला शरीर प्राप्त हो वह कटुकरस नामकर्म है, कार्मण पुद्गल परमाणुओंका शरीरमें कटुकरस मय परिणमन होना सो कटुकरस है। हरित कुटकी आदि वनस्पतिके जीवोंके शरीरमें यह रस होता है।

३—कषायरस नामकर्म—जिस कर्मके उदयसे जीवोंको हर्रके समान या बहेडाके समान कषायले रसवाला शरीर प्राप्त हो वह कषायरस नामकर्म है। पुद्गल कार्मण वर्गणाओंका शरीरमे कषायरस रूप परिणमन होना सो कषायरस नामकर्म है।

४—आम्लरस नामकर्म—जिस कर्मके उदयसे जीवोंको नीबूके रसके समान (खट्टा) या इमलीके रसके समान रसवाला शरीर प्राप्त हो वह आम्लरस नामकर्म है। इस कर्मसे जीवोंको ऐसा

शरीर प्राप्त होता है कि जिसमें खट्टारस होता है वह पुद्गलका परिणमन है।

५—मधुररस नामकर्म—जिस कर्मके उदयसे जीवोंके शरीरमें इक्षुरसके समान मधुररस प्राप्त हो वह मधुररस नामकर्म है। पुद्गल परमाणुमें मधुररस शक्तिका परिणमन होना सो मधुररस नामकर्म है। रस नामकर्मका अभाव नहीं कह सके हैं क्योंकि निंबादिक शरीरमें कटुक रसादिका अनुभव प्रत्यक्ष सिद्ध है।

गंधनामकर्म—जिस नामकर्मके उदयसे जीवोंके शरीरमें गंध प्राप्त हो वह गंध नामकर्म है। वह दो प्रकार है। सुगंध नामकर्म, दुर्गंध नामकर्म।

जिस कर्मके उदयसे जीवोंके शरीरमें सुगंधी प्राप्त हो जैसे तीर्थंकर परमदेवके शरीरमें सुगंधी प्राप्त होती है। पुद्गल परमाणुमें ऐसी शक्तिका प्राप्त होना सो सुगंधी नामकर्म है।

जिस कर्मके उदयसे जीवोंके शरीरमें दुर्गंध प्राप्त हो जैसे नरकके जीवोंके शरीरमें दुर्गंधी होती है।

गंधकर्मका अभाव कह नहीं सके क्योंकि सुगंधी और दुर्गंधी प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होती है। पुद्गल परमाणुमें इस नामकर्मके उदयसे शरीरमें सुगंधी-और दुर्गंधीका परिणमन हो वह गंध नामकर्म है। जैसे हाथीके शरीरमें गंध या गुलाबके फूलमें सुगंध प्रत्यक्ष सबको है।

वर्णनामकर्म—जिस कर्मके उदयसे जीवोंके शरीरमें वर्ण प्राप्त हो वह वर्ण नामकर्म है। इसके पांच भेद है। वर्ण प्रत्यक्षमें सबको

दीखता है पुद्गल परमाणुमें ऐसी शक्तिका परिणमन हो जिससे शरीरमें वर्ण उत्पन्न हो।

कृष्णवर्ण नामकर्म—जिस कर्मके उदयसे जीवोंके शरीरमें कृष्णवर्ण उत्पन्न हो वह कृष्णवर्ण नामकर्म है। जैसे काली भैंस काला मनुष्य, काला कौवा आदि।

नीलवर्ण—जिस कर्मके उदयसे शरीरके पुद्गल परमाणुमें नीलवर्ण हो वह नीलवर्ण नामकर्म है। जसे मोरकी गर्दनका रंग। इस कर्मके उदयसे पुद्गल परमाणुमें इस प्रकारके वर्णका परिणमन हो जाता है।

रक्तवर्ण—जिस कर्मके उदयसे जीवोंको ऐसा शरीर प्राप्त हो जिसमें पुद्गल परमाणुका रंग रक्त (लाल) वर्णका हो। इस कर्मके उदयसे परमाणु लाल रंगका परिणमन करें वह रक्त नामकर्म है जैसे लाल चिडिया।

पीतवर्ण—जिस कर्मके उदयसे जीवोंके शरीरका रंग पीत हो। वह पीतवर्ण नामकर्म है। जैसे पीला सूआ।

श्वेतवर्ण—जिस कर्मके उदयसे जीवोंके शरीरका रंग श्वेत (धवल) हो, वह श्वेतवर्ण नामकर्म है। जैसे सफेद बगुला।

यदि वर्ण न माना जाय। तो वर्णके विना शरीरका ही उदय नहीं हो सक्ता है और शरीरका वर्ण प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर है। इसलिये वर्णनामकर्मका अभाव किसी प्रकार कह नहीं सक्ते।

आनुपूर्व्य नामकर्म—जिस कर्मके उदयसे जीवोंको विग्रहगतिमें पूर्वगति (पूर्वभवकी पर्यायके आकारवाला) के आकार

वाला संस्थान प्राप्त हो वह आनुपूर्व्य नामकर्म कहलाता है। भावार्थ जैसे एक जीवने मनुष्यपर्यायका परित्याग कर देव-पर्याय प्राप्त की तो मनुष्य-पर्याय छोड़नेके बाद और देवपर्याय प्राप्त करनेके प्रथम (दोनों पर्यायके अंतरालमें) विग्रहगतिमें मनुष्यके शरीरके समान कार्मण शरीरका आकार बना रहे वह आनुपूर्व्य है। वह गतिके भेदसे चार प्रकार है।

नरकगत्यानुपूर्व्य नामकर्म—जिस कर्मके उदयसे नरक गति को गमन करते हुए जीवको विग्रह गतिमें (दोनों पर्यायके अंत-रालमें) पूर्वभवका आकार बना रहे (जिस पर्यायको छोडकर नरकमें जा रहा है) उसको नरक गति आनुपूर्व्य कहते हैं भावार्थ जब तक नरक शरीरका धारण नहीं किया है। तब तक उस जीवके कार्मण शरीरका आकार पूर्व पर्याय (जिस पर्यायको त्यागकर वह नरक जा रहा है) के आकारका होना वह आनुपूर्व्य नामकर्म है।

तिर्यग्गत्यानुपूर्व्य नामकर्म—जिस कर्मके उदयसे जीवोंको तिर्यंच गतिमें गमन करते समय विग्रहगतिमें कार्मण शरीरका आकार पूर्व पर्याय (जिस पर्यायको छोडकर तिर्यग्गतिमें जा रहा है) के आकारका हो वह तिर्यग्गत्यानुपूर्व्य नामकर्म है।

मनुष्यगत्यानुपूर्व्य नामकर्म—जिस कर्मके उदयसे जीवोंको मनुष्य पर्यायके प्रति गमन करते समय विग्रह गतिमें कार्माण शरीरका आकार पूर्व पर्याय (जिस पर्यायको छोड़कर मनुष्य पर्यायमें गमन करनेको जा रहा है) के आकारके समान हो वह मनुष्यगत्यानुपूर्व्य कहलाता है।

देवगत्यानुपूर्व्य नामकर्म—जिस कर्मके उदयसे जीवोंको देव-पर्यायके प्रति गमन करते समय विग्रहगतिमें कार्माण शरीरका आकार पूर्व पर्याय (जिस पर्यायका परित्याग कर देव-पर्यायमें गमन करनेको जा रहा है) के आकारके समान हो वह देवगत्यानुपूर्व्य नामकर्म है।

गत्यानुपूर्व्यमें दो बातें हैं। एक गति दूसरी आनुपूर्वी। सो गति तो जिस पर्यायको जाना है वह ग्रहण की जायगी। जैसे एक मनुष्यको मरकर देव पर्यायको जाना है तो यहां पर गति तो देवगति कहलायेगी। परन्तु आनुपूर्वी—मनुष्य पर्यायकी होगी आनुपूर्वीका अर्थ विग्रहगतिमें जीवका आकार सो मनुष्य पर्यायसे मरकर देवपर्यायमें जा रहा है। इसलिये विग्रहगतिमें मनुष्य पर्यायका ही आकार रहेगा। जिस पर्यायसे मरकर आयेगा उस त्यक्त पर्यायके आकारको ही विग्रहगतिमें धारण करता रहेगा यह आनुपूर्वीका अर्थ है। अर्थात् जिस गतिमें जा रहा है उससे पहले भवके शरीराकारको जीव धारण करे सो गत्यानुपूर्वी कर्म है।

यदि आनुपूर्वी कर्म न माना जाय तो कार्माण शरीरका आकार नहीं मानना पडेगा। कार्मणका आकार माने विना उसको शरीर संज्ञा ही नहीं होती है। जो कार्मण पिंडका कोई भी प्रकारका आकार नहीं माने तो कार्मण पिंडको शरीर नहीं कह सकते और कार्मण पिंडको शरीर माने विना जीव मरने पर शरीर रहित हो जायगा तो तपश्चरण ध्यान अध्ययन आदि क्रियायें व्यर्थ

ठहरेंगी क्योंकि जीव मरने पर सर्वथा शरीर रहित हो जाता है। कार्मेण पिंडको शरीररूप माननेसे वह मरने पर भी छूटता नहीं है तपश्चरण ध्यान आदिसे ही नष्ट होता है। इसलिये विग्रहगति में भी कार्मण पिंडका आकार रहता है। वह आकार जिस शरीरको छोडकर विग्रहगतिमें आया है उस शरीरका आकार रहता है। कार्मणको शरीर संज्ञा आगममें बतलाई है आकारके विना शरीर होता नहीं है। इसलिये आनुपूर्वी नामकर्म अवश्य ही मानना पडेगा।

अगुरुलघु नामकर्म—जिस कर्मके उदयसे जीवोंका शरीर अर्कतूलके समान एकदम हलका होकर ऊपरको उड नहीं जाता है और न लोहेके गोलेके समान एकदम भारी होकर नीचे पड़ नहीं जाता है उसको अगुरुलघु नामकर्म कहते हैं।

उपघात नामकर्म—जिस कर्मके उदयसे जीव अपने शरीरके बंधनसे स्वय मर जावे या अपने श्वासोच्छ्वासके विरोध करने पर अपने शरीरकी क्रिया अपने आप ही मृत्यु हो अथवा अपने विकट सींग आदि शरीरके अवयव ही अपने शरीरको घात करनेमें कारण हों वह उपघात नामकर्म है। यह उपघात नामकर्म अग्नि प्रवेश जल प्रपात आदिके द्वारा भी अपने शरीरके द्वारा ही अपने शरीरका घात करता है। जैसे बारहसिंगाके सींग बांस आदिमें अटक कर मृत्युके कारण होते हैं।

परघातनाम कर्म—जिस कर्मके उदयसे जीवोंके शरीरकी रचना ऐसी हो जिससे दूसरे जीवोंके शरीरका घात हो दूसरे, जीवोंकी मृत्यु हो। जैसे सर्प, सर्पके द्वारा बहुतसे जीवोंका घात

होता है। विच्छुकी पूंछ सिंहके पंजा, रीछकी जीभ आदि। शस्त्रादिकके द्वारा भी जिससे दूसरे जीवोंका घात हो वह परघात नामकर्म है।

आताप नामकर्म—जिस कर्मके उदयसे जीवोंके शरीरमें आताप हो वह आताप नामकर्म है।

आताप नामकर्मके उदयसे जीवोंको ऐसा शरीर प्राप्त होना जिसमें आताप होता हो। सूर्यमंडल—पृथ्वीकाय आदिमें आताप होता है। और वह प्रत्यक्ष दीखता है। इसलिये इस कर्मका अभाव नहीं मानसक्ते।

उद्योत नामकर्म—जिस कर्मके उदयसे जीवोंके शरीरमें चन्द्र मंडलके समान उद्योत हो—वह उद्योत नामकर्म है। इस कर्मका अभाव नहीं कह सक्ते हैं। क्योंकि नक्षत्र चद्र मंडल आदिमें उद्योत प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होरहा है।

श्वासोश्वासनामकर्म—जिस कर्मके उदयसे जीवोंके शरीरमें श्वासोश्वास क्रिया उत्पन्न हो वह श्वासोश्वास नामकर्म है।

प्रशस्तविहायोगतिनामकर्म—जिस कर्मके उदयसे जीवोंको ऐसा शरीर प्राप्त हो—जिससे आकाशमें हंस विद्याधर—देवोंके समान सुंदर गति हो वह प्रशस्त विहायोगति नामकर्म है।

अप्रशस्तविहायोगतिनामकर्म—जिस कर्मके उदयसे जीवोंको ऐसा शरीर प्राप्त हो जिससे ऊंट गदहा—सियाल मक्षिका पक्षी आदिके समान गमन हो।

इस कर्मका अभाव कह नहीं सक्ते हैं क्योंकि छोटे २ पक्षियोंमें अप्रशस्त विहायोगति प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होतीहै।

प्रत्येक शरीर नामकर्म—जिस कर्मके उदयसे जीवोंको ऐसा शरीर प्राप्त हो कि जिस शरीरका एक ही जीवात्मा स्वामी हो। भावार्थ—एक शरीरका एक ही आत्मा स्वामी हो। एक शरीरमें एक ही जीव रहता हो। यद्यपि सूक्ष्म जीव मनुष्यके शरीरमें भी अगणित हैं। क्षण क्षणमें उत्पन्न होते हैं। और क्षणाक्षणमें नाशको प्राप्त होते हैं तोभी मनुष्यका शरीर उन छोटे २ सूक्ष्म जीवोंके प्रभावसे न तो बढता है और न घटता है केवल वे सूक्ष्म जीव उसमें आधारभूतसे रहते हैं परन्तु मनुष्यके मूल शरीरकी वृद्धि एक जीव आश्रित है। वही जीव उस शरीरका मालिक है। वही मनुष्य पर्यायको प्राप्त हुआ है। इतर जीव मनुष्य-पर्यायको प्राप्त नहीं है। यह दृष्टांतमात्र है परन्तु प्रत्येक नामकर्मका उदय एकेंद्रिय जीवमें होता है।

साधारण शरीर—जिस कर्मके उदयसे एक शरीरके स्वामी अनेक जीव हों वह शरीर उन समस्त जीवोंके आहारपानसे बढता हो। वे समस्त जीव उस शरीरमें एक साथ जन्म मरण किया करते हैं आहार ग्रहण करते हैं और अपना पालन पोषन सब एक साथ ही करते हैं भावार्थ एक शरीरका भोग अनेक जीव करते हैं। उसको साधारण शरीर कहते हैं जैसे कंद (मूली-गाजर आलू आदि) में निगोदिया जीवोंका शरीर साधारण शरीर कहलाता है। दशकंद साधारण ही होते हैं वे किसी अवस्थामें प्रत्येक नहीं होते हैं। एक निगोद शरीरमें सिद्धराशिके अनंतगुणे जीव रहते हैं। इसलिये कंदका सेवन नहीं करना चाहिये। सुखाकर पकाकर खानेमें भी अनंत जीवोंको हानि होती है।

त्रस नामकर्म—जिस कर्मके उदयसे जीवोंको त्रस पर्याय (दो इन्द्रिय–तीन इन्द्रिय–चार इन्द्रिय–पांच इन्द्रिय शरीरको त्रस शरीर कहते हैं, प्राप्त हो वह त्रस पर्याय है। जो गमन करे वह त्रस और स्थिर रहे वह स्थावर ऐसा अर्थ नहीं करना चाहिये क्यों-कि हवा (पवनकाय) के जीव गमन करने पर भी स्थावर हैं। और बहुतसे त्रस जीवोंमें गमन करनेकी शक्ति नहीं होनेपर भी त्रसनाम कर्मके उदयसे वे दो इन्द्रिय आदि पर्यायमें त्रस कहे जाते हैं। इस कर्मका अभाव कह नहीं सके हैं क्योंकि इस कर्मके विना दो इन्द्रिय आदि इन्द्रियोंका अभाव होगा जो प्रत्यक्ष सबको दृष्टिगोचर होरही हैं।

स्थावर नामकर्म—जिस कर्मके उदयसे जीवोंको पृथ्वीकाय आपकाय तेजकाय-वायुकाय–वनस्पतिकाय शरीर प्राप्त हो। एकेन्द्रिय शरीरधारी जीवको स्थावर कहते हैं।

सुभगनाम—जिस कर्मके उदयसे जीवोंको जनमन रंजन करनेवाला परम सौभाग्य युक्त देखनेमे सबको प्रिय शरीर प्राप्त हो वह सुभग नामकर्म है।

दुर्भग नामकर्म—जिस कर्मके उदयसे स्त्री पुरुषके शरीरमे सुंदरता होने पर भी परस्पर प्रीतिकर न हो वह दुर्भग नामकर्म है। दुर्भग कर्मके उदयसे सुंदर शरीर होनेपर भी दूसरोंको प्यारा नहीं लगता है जिससे उसको कोई भी नहीं चाहता है।

सुस्वर नामकर्म—जिस कर्मके उदयसे शरीरमें सर्वजन कर्ण-प्रिय–अतिशय मनोज्ञ—और मधुर स्वरकी प्राप्ति हो वह सुस्वर नामकर्म है। जैसे कोयलका स्वर।

दु.स्वर नामकर्म—जिस कर्मके उदयसे जीवोंके शरीरमें कर्ण-भेदी—कटुक—अप्रिय एवं सुनने मात्रसे ग्लानि उत्पन्न हो ऐसा स्वर प्रकट हो वह दुःस्वर नामकर्म है जैसे काक गदहा आदि जीवोंका स्वर बहुत ही पीडाकर होता है वह सब दु.स्वर नामकर्म का उदय है।

शुभनामकर्म—जिस कर्मके उदयसे जीवोंके शरीरमें ऐसे मनोहर आंगोपांगकी रचना हो कि जिसको देखने मात्रसे ही अन्य जीवोंका मन लुभाय जाय—नेत्र और मन वश होजाय वह शुभनामकर्म है।

अशुभनामकर्म—जिस कर्मके उदयसे जीवोंके शरीरमें ऐसे विरूपक आंगोपांगकी रचना हो जिसको देखने मात्रसे अन्य जीवोंको ग्लानि अप्रियता-और पोडा हो वह अशुभ नामकर्म है।

बादर नामकर्म—जिस कर्मके उदयसे जीवोंको ऐसा शरीर प्राप्त हो जिससे अन्य जीवोंके शरीरको बाधा हो। दूसरे जीवोंके शरीरको रोकता हो और स्वयं दूसरे जीवोंके शरीरसे रुक जाता हो। वह बादर नामकर्म है।

सूक्ष्म नामकर्म—जिस कर्मके उदयसे जीवोंको सूक्ष्म शरीर प्राप्त हो वह सूक्ष्म नामकर्म है सूक्ष्म जीव किसी भी जीवको व्याघात नहीं पहुंचाते हैं और न उनका व्याघात कोई कर सक्ता है।

पर्याप्ति नामकर्म—जिस कर्मके उदयसे जीवोंको (आहार-शरीर-इन्द्रिय श्वासोश्वास-भाषा और मन ये छह) पर्याप्ति परि-

पूर्ण हो वह पर्याप्ति नामकर्म है। एकेंद्रिय जीवोंके चार पर्याप्ति होती हैं। दो इन्द्रियसे असैनी पंचेन्द्रिय जीवों तक पांच पर्याप्ति होती हैं। संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवोंके छह पर्याप्ति होती हैं।

अपर्याप्ति नामकर्म—जिस कर्मके उदयसे जीवोंको आहारादि पर्याप्ति परिपुर्ण करनेकी सामर्थ्य नहीं हो—पर्याप्ति परिपूर्ण करे विना ही मृत्युको प्राप्त होजावे वह अपर्याप्ति नामकर्म हैं।

स्थिर नामकर्म—जिस शुभकर्मके उदयसे जीवोंके शरीरमें ऐसी विलक्षण शक्ति प्राप्त हो जिससे कि दुष्कर तपश्चरण–उपवासादि कायक्लेश करने पर भी शरीर और शरीरके अंगोपागमें बराबर स्थिरता बनी रहे। किसी प्रकारकी अस्थिरता शरीर और अंगोपांगमें प्रकट न हो। वह स्थिर नामकर्म है। भावार्थ मनुष्योंका शरीर आहार पानीके न मिलनेसे थोडेसे समयमें हो कृश होने लगता है। तपश्चरणसे आहार पानीका निरोध और इच्छाका निरोध होता है इसलिये साधारण मनुष्योंका शरीर व अंगोपाग तपश्चरणसे कृश हो जाते हैं मांस रुधिर मेदा धातु और उपधातु की स्थिरता नहीं रहती है। परंतु जिन जीवोंको स्थिर नामकर्मके उदयसे जीवोंके शरीरमें मांस रुधिर मेदा धातु आदि रसोपरस कायक्लेश करने पर भी स्थिर रहते हैं। यह पुण्यकर्मके योगसे प्राप्त होता है।

अस्थिर नामकर्म—जिस कर्मके उदयसे जीवोंके शरीरमें रस उपरसकी स्थिरता न हो, वह अस्थिर नामकर्म हैं। जरा सा शीत–या सहज उष्ण सहन करनेमें जो शरीर या आगोपांग सहन

करनेमें असमर्थ हो जरासे कायक्लेशमें शरीर कृश होजावे वह अस्थिर नामकर्म है।

आदेयनामकर्म—जिस कर्मके उदयसे जीवोंके शरीरमें कान्ति उत्पन्न हो वह आदेय नामकर्म है।

अनादेयनामकर्म—जिस कर्मके उदयसे जीवोंके शरीरमें कान्ति उत्पन्न न हो वह अनादेय कर्म है।

यशःकीर्ति नामकर्म—जिस कर्मके उदयसे जीवोंके प्रशस्त कार्य व गुणोंके निमित्तसे कीर्ति होना सो यशःकीर्तिः नामकर्म है अथवा अप्रशस्त कार्य करने पर भी और दुर्गुण समापन्न होनेपर यशःकीर्ति नामकर्मके उदयसे कीर्ति होना सो यशःकीर्ति नामकर्म है। भावार्थ—यशःकीर्ति कर्मके उदयसे मलिन कार्य करने पर भी प्रसंशा होती है। अनीतिके कार्य करने पर भी प्रसंशा और यश होता है वह सब यशःकीर्ति कर्मका उदय है। अथवा अपनेमें गुण हों या न हों हो, तो भी लोकमें प्रख्यापन हो वह यशःकीर्ति नाम कर्मके उदयका फल है।

अयशःकीर्तिनामकर्म—जिस कर्मके उदयसे जीवोंको प्रशस्त गुण विद्यमान होनेपर भी प्रशंसा न हो। अच्छे कार्य करने पर भी प्रशंसा न हो। नीति और सदाचार पूर्वक प्रकृति करने पर भी प्रशंसा न हो वह अयशःकीर्ति नामकर्म है। अथवा अपनेमें दोषों-का सद्भाव नहीं होने पर भी दोषोंकी प्रगटता होना सो अयशः-कीर्ति नामकर्म है।

तीर्थंकर नामकर्म—जिस कर्मके उदयसे जीवोंको तीन जग-

सको आनंदित एवं आश्चर्य करनेवाला-पंचकल्याणक द्वारा देवो-पुनीत चमत्कार सहित—तीन जगतके जीवोंको परम अभयदान देनेवाला धर्मचक्रको धारण करनेवाला तीर्थंकर परमदेव पदकी प्राप्ति हो वह तीर्थंकर नामकर्म है।

तीर्थंकर पद सर्वोत्कृष्ट है सर्व जगत पूज्य है—त्रिजगत मान्य है-तीन जगतके जीवोंको अभयदान देनेवाला है, समस्त जीवोंको सुख करनेवाला है। देवोंसे परमपूज्य है।

इस प्रकार नामकर्मके उदयसे जीवोंका अनेक प्रकारकी अवस्थाएं प्राप्त होता है जैसे चित्रकार अनेकप्रकारके चित्र बनाता है वैसे ही नामकर्मके उदयसे अनेकप्रकारके नर-नारकी देव-तिर्यंच आदि अवस्थाको जीव प्राप्त होता है।

गोत्रकर्म—जिस कर्मके उदयसे जीवोंको महाव्रतके योग्य व महाव्रत धारण करनेके अयोग्य ऊंच नीच गोत्र प्राप्त हो गोत्रकर्म हैं। जिसप्रकार कुम्हार छोटे बड़े बर्तन बनाता है वैसे ही गोत्रकर्म ऊंचनीच कुलमें जन्म प्राप्त कराता है। ऊंच गोत्रकर्म जिसके उदयसे मोक्षमार्ग धारण करने लायक गोत्र प्राप्त हो।

मोक्षमार्गका प्रगट करनेवाला एक गोत्रकर्म है, ऊंचगोत्रकर्म महान पुण्यकर्मके फलसे ही प्राप्त होता है। जिस प्रकार संयमकी प्राप्तिके लिये मनुष्य पर्यायकी प्राप्ति जैनधर्मकी प्राप्ति और सर्व प्रकारकी निराकुलताकी आवश्यकता है अथवा आसन्नभव्यता और सम्यग्दर्शनकी विशुद्धिकी जैसी आवश्यकता संयम धारण करनेके लिये नियामक है वैसे ही ऊंचगोत्र प्राप्त करलेनेकी परमावश्य-

कता है। ऊंच गोत्र प्राप्त किये विना मुनिव्रत ही नहीं होता है तो विशेष संयम किस प्रकार होसक्ता है ? जिससे साक्षात मोक्षमार्गता व्यक्त होजाय ? इसलिये ऊचगोत्रका प्राप्त करलेना महान पुण्यका फल वतलाया है। केवल बाह्य स्नान शुद्धि या ऊपरकी सफाईको ही ऊच गोत्र नहीं कह सकते हैं या उत्तम व्यवहार करनेवाले वर्णशंकरको ऊंचगोत्र नहीं कहते हैं ऊचगोत्रका प्राप्त करलेना पूर्वभवके पुण्यकर्मका फल है जिस कुलमें रजशुद्धि-वीर्यशुद्धि-आवरणशुद्धि और सदाचारशुद्धि और पिंडशुद्धि नियमितरूपसे वंशपरंपरागत चली आई है। जिस कुलमें धरेजा नहीं हुआ है जाति शंकरता नहीं हुई है और आचार विचार एवं खान पान नीवजाति भ्रष्ट तथा जातिच्युत (दशा आदि) के साथ नहीं हुआ है वह कुल ऊंच गोत्र कहलाता है ऐसे कुलमें उत्पन्न हुए मनुष्य व्रत (महाव्रत) धारण कर सक्ते हैं। ऐसे मनुष्योंकी ही पूर्वभवके पुण्योदयसे महाव्रत धारण करनेकी दृढ धारणा होती है परीक्षाके समय वे च्युत नहीं होते हैं। विचारोंके रूप जार और श्रद्धासे मलिन नहीं होते हैं। भावोंकी दृढता प्रतिष्टा गौरव आदि के प्रलोभनसे सकंप नहीं होती है।

जिसकी उत्पत्ति मलिन है उसकी भावोंकी परणति भी पतित रूप होती है। और जो नीच कुलमे उत्पन्न हुआ है उसके भावोंमें धर्मकी उच्च आदर्शताको ग्रहण करनेकी शक्ति नहीं होती है। इसीलिये शास्त्रोंमें विवाह शुद्ध कुल अपनी शुद्ध जातिमें वतलाया है। "अथ कन्या सजातीया विशुद्धकुलसंभवा" ऐसी

शास्त्रीय आज्ञा बतलाई है। विजातीय बिवाहसे उच्च गोत्रमें हानि होती है।

इसी प्रकार विधवा विवाहसे उच्च गोत्रता नष्ट हो जाती है इसी प्रकार मद्य-मांस मधुसेवी महाव्रतकी शक्तिसे रहित नीच कुलके मनुष्यके हाथका भोजन पान करनेसे ऊंच गोत्रकी हानि होती है। दस्साके साथ व्यवहार करनेसे (जो दस्सा विधवा विवाहादि कारणोंसे जातिच्युत हैं) भी जाति च्युत न होता हैं। ऊंच गोत्रता नष्ट होती हैं।

जितने तीर्थंकर हुए विशुद्ध क्षत्रियकुलमें ही उत्पन्न हुए हैं।

वर्णशंकरता विधवा विवाह और छूताछूतका लोप तीर्थंकर माता पिताके कुलमें नहीं था।

मुनिगण शूद्रके हाथका पानी पीनेवाले श्रावकका भोजन ग्रहण नहीं करते हैं। इससे मालुम पड़ता है कि छूताछूतका लोप करना आगम विरुद्ध है। ऊंच गोत्रको हानि करनेवाला है। मुनिका स्पर्श नीच कुल मातंगके साथ हो जाय तो मुनिको स्नान (दंड स्नान) करना पडता है और प्रायश्चित लेना पडता है। प्रतिमाका शूद्र स्पर्श कर लेवे तो प्रतिमाकी शुद्धि करानी पडती है इसलिये ऊंचगोत्रको हानि करनेवाला छूताछूतका लोप करना है।

नीचगोत्र—जिस पापके फलसे नीचकुल (महाव्रतके धारण करनेके अयोग्य) में जन्म लेवे वह नीच गोत्र है।

गोत्रकर्म न माना जाय तो मोक्षमार्गका ही लोप होजायगा

तथा उत्तम सदाचारकी क्रियायें संस्कार-कुल विशुद्धि-पिंडशुद्धि आदि समस्त मोक्षमार्गके उपयोगी कार्योंका लोप होजायगा दीक्षा शिक्षाका भी अभाव होगा।

कितने ही लोग स्नान करना—सफेदपोष रहना-साबू लगा-कर उजले वाजले रहना यही ऊंचगोत्र (अपने व्यापार कर्मसे होता है) है ऐसा मानते हैं। परंतु जैनशासनमें श्रीऋषभतीर्थंकरसे लेकर महावीर पर्यन्त २४ तीर्थंकरोंने ही आठ कर्म बतलाये हैं। सात कर्म किसीने नहीं बतलाये। न गोत्रका अभाव बतलाया प्रत्येक युगमें आठों कर्मोका उदय रहता है। इसलिये ऊपरी भयका या व्यापारके निमित्तसे ऊंचनीच गोत्र संज्ञा नहीं है। भर-पेट मनमाने पापकर्म करे और ऊपर सफेदपोष बने उनको ऊंच गोत्र नहीं माना है। किंतु पूर्वभवके पुण्योदयसे इक्ष्वाकु आदि वंशमें जन्म लेना सो ऊंच गोत्र है ऊंचगोत्रकी महिमा सबको प्रत्यक्ष है। इसलिये गोत्रकर्म भी प्रत्यक्ष है।

अंतराय कर्म—जिस कर्मके उदयसे जीवोंको सब प्रकारको सामग्री मौजूद होने पर भी-तथा सब प्रकारके साधन उपस्थित होनेपर जो भोगने नहीं देवे विघ्न कर देवे वह अन्तरायकर्म है।

जिसप्रकार भंडारी राजाकी आज्ञा प्राप्त करलेने पर भी कार्यमें नादिक कार्यमें) विघ्न करता है। अथवा राजासे ऐसी आज्ञा प्राप्त करनेमें ही बाधा करता है उसीप्रकार अंतरायकर्म बाधक होता है।

दानांतराय-दान देने योग्य अपने पास सामग्री धन संपत्ति

और सब प्रकारकी योग्यता प्राप्त होने पर भी तथा उत्तम पात्रका समागम होने पर भी जो कर्म दान प्रदान-करनेमें विघ्न करे, दान देनेके भाव न होने देवें। तथा भावोंमें लोभ रसको उत्पन्न कर दान देनेमें विपरीत बुद्धि होजावे। दान देते हुये भी मनमें मलिन वासना और मूर्च्छा परिणाम बना रहे वह दानातराय नामकर्म है मलिन वासनासे दिये हुए दानका फल भी उत्तम नहीं होता है

लोभांतराय—अनेक प्रकारका उत्तमोत्तम और प्रत्यक्ष लाभ-जनक व्यापार करने पर भी लाभकी प्राप्ति न हो। अपने व्यापारसे अपनेको लाभ न होकर उसी व्यापारसे दूसरोंको लाभ हो जाय प्राप्त कीहुई संपत्तिका स्वभावरूपसे विनाश होजावे। आती हुई संपत्तिमें राजा या कोई महान पुरुष बाधक बन जावे। इत्यादि अनेक प्रकारसे सुख साधनोंका लाभ होनेमें जो कर्म विघ्न करे वह लाभांतराय नामकर्म है।

भोगांतराय—भोग सामग्री उपस्थित होने पर भी जो भोग न सके, भोजन खान पान सामग्री परोसी जाने पर भी उसका भोग न ले सके। वह भोगान्तराय है।

उपभोगान्तराय—उपभोग सामग्री उपस्थित होने पर भी जो उपभोग पदार्थोंको सेवन न कर सके। वह उपभोगातराय है।

वीर्यान्तराय—जिस कर्मके उदयसे संपूर्ण प्रकारके कार्य करनेकी शक्ति उपस्थित होनेपर भी कार्य करनेमें असमर्थता हो, समस्त बातोंके सहन करनेकी शक्ति मौजूद होने पर भी सहन करनेमें अन्तरंग भावोंकी कायरता हो। परिणामोंमें धैर्य न हो,

भावोंकी स्थिरता न हो, मनकी गंभीरता न हो। वह सब वीर्या-न्तराय कर्म है। अथवा शक्तिको जो उत्पन्न न होने दे वह वीर्या-न्तराय कर्म है।

अन्तरायकर्मको न माना जाय तो व्यापारादिकमें होनेवाली हानिका लोप होगा। जो प्रत्यक्ष सबको अनुभवित है। इसी प्रकार भोग उपभोग आदि सामग्री सेवन करनेमें कभी कभी ऐसा विघ्न दीखता है कि पदार्थ सामने हाथ पर आजाने पर भी उसका सेवन नहीं होता है। इच्छा होनेपर प्राप्त नहीं होता है।

दान देनेके परिणाम होने पर या दान देने पर भी उस वस्तुसे ममत्व भाव नहीं जाता है सो सब अंतराय कर्मका उदय ही सम-झना चाहिये।

इसीप्रकार वीर्यान्तरायका कार्य सबको प्रत्यक्ष प्रतिभा-सित है।

कौन कौनसे कार्य करनेसे कौन कौनसे कर्मका वंध होता है।

ज्ञानावर्ण कर्मके वंधके कारण-ज्ञानके साधनोंमें विघ्न करना, ज्ञान साधनोंका लोप करना, सत्य और प्रमाणित ज्ञानको दूपित करना, विद्वानोंसे जैन पंडितोंसे मत्सर भाव रखना, पडितोंको मिथ्या अवर्णवाद लगाकर ज्ञानकी वृद्धिमें रोडा करना, संस्कृत पाठशालाके चंदामें विघ्न करना, शास्त्रोंकी मिथ्या समालोचना करना, ज्ञानी आचार्योंके वीतराग भावोंको दूपित बनाना, अपनी

मौजमजाके लिये धर्मशास्त्रोंका (आगम-विरुद्ध विधवाविवाह आदि) रूपान्तर गढ़ना। मिथ्या मतको बढ़ानेवाले और पापोंकी वृद्धि करनेवाले कपोलकल्पित लेख लिखना उन लेखोंको धर्मरहस्य के नामसे प्रगट करना। सर्वज्ञकी वाणीमें संदेह कराना। जिनागमके स्वरूपको अन्य मिथ्यामतके स्वरूपके साथ मिलानेका प्रयत्न करना इत्यादि सर्व कार्य करनेसे ज्ञानावरण कर्मका बंध होता है। जैसे आजकल इस कार्यको पढे लिखे सुधारक अपने मतलबकी सिद्धिके लिये कर रहे हैं।

दर्शनावरण कर्मके बंधके कारण (संक्षिप्त) दूसरोंकी आंख फोडना, जिनेन्द्रभगवानकी मूर्तिके दर्शन करनेमें विघ्न करना शराब पीना, दिवसमें शयन करना, दूसरोंकी संपत्ति देखकर रोना। आर्त परिणाम करना। मुनियोंकी निन्दा करना। मन्दिर बधवाने को रोकना, पंचकल्याणके करानेमें व्यर्थ खर्च करवाना, रात्रिमें होटलमें खाना, अभक्ष सेवन करना, जातिपांतिका लोप करना, शास्त्रोंकी प्रमाणता नष्ट करना—इन्द्रियोंको छेदन करना अन्न पान रोकना। इत्यादि सर्व दर्शनावरणके बंधके कारण हैं। दर्शनावरणके बंधके कारण अनेक हैं। ऊपर संक्षिप्तमें बतलाये हैं। और भी मन्दिरकी आवक बन्द करना, मूर्तिपूजाका लोप करना, पापका उपदेश देना, मन्दिरका द्रव्य अपहरण करना। पाप कार्यों को उत्तम बतलाना इत्यादि अनेक कारण दर्शनावरणके बन्धके कारण हैं। वर्तमान समयमें लोग अज्ञान भावसे या स्वार्थबुद्धिसे दर्शनावरण कर्मके बन्धके कारण बहुत करते हैं।

कुशिक्षासे ज्ञानवरण और दर्शनावरण कर्मके बन्धके कारण अनायास ही मनुष्य स्वयमेव करने लगता है, कुशिक्षासे अज्ञान होता है। विवेक और विचार-बुद्धि नष्ट हो जाती हैं। जिससे वह जिनवाणीकी वृद्धिको रोक कर ज्ञानावरण कर्मका बन्ध करता है। पण्डितोंकी निन्दा कर और मुनियोंकी निन्दा कर प्रशस्त ज्ञानकी वृद्धिको रोकता हैं। इसलिये ज्ञानावरण कर्मका बन्ध करता हैं। रात्रिमे अभक्ष भक्षण होटलमें करता है। जिन दर्शनको रोकता हैं पाठशालाओंकी वृद्धिकी अपने स्वार्थके सामने कंटक समझता हैं। इसलिये उनके चन्दामें विघ्न करता है यह सब ज्ञानावरण व दर्शनावरण कर्मके बन्धके कारण हैं। कुशिक्षासे ही शास्त्रोंकी मूर्खता पूर्ण समालोचना की जाती हैं यह भी प्रशस्त ज्ञानको दूषण लगाकर प्रशस्त ज्ञानको रोकता है यह सब ज्ञानावरण व दर्शनावरणके कारण हैं।

वेदनीकर्मके बन्धके कारण—जीवोंको मारना, जीवोंकी दुख देना, यज्ञमें पशुवध करना, देवी देवता पर बलि चढाना, दूसरोंकी संपत्तिको अन्याय पूर्वक छीन लेनेके लिये (साम्यवाद) बोलसेविज्म जैसी दुर्नीतिको नीति मानकर श्रीमानोंकी हत्या करना, राष्ट्रोन्नतिके बहाने दूसरोंका धन संपत्ति लूटना, स्वतंत्रताकी प्राप्ति के बहानेसे जगतके भोले प्राणियोंको ठगना। पुण्य पापका लोप करना, कर्मको नहीं मानना, परलोक नहीं मानना पढे लिखे होकर घूंस लेकर दूसरे जीवोंको दुख देना, जिनपूजन करना, वात्सल्यभाव रखना, साधर्मी भाइयोंको धर्मबंधु समझकर सेवा करना

प्रतिष्ठा करना, रथोत्सव करना, गजरथ चलाना, मुनियोंको दान देना, वैयावृत्य करना, उपवास करना, जिनेन्द्रपुजनको आम पुण्य करना, तीर्थयात्रा करना, प्रभावना करना, व्रतोंको पालन करना इत्यादि सब वेदनीकर्मके बंधके कारण हैं।

वेदनी कर्म दो प्रकार है—साता और असाता वेदनी। साता वेदनी कर्मका बंध अच्छे कारणोंके करनेसे होता है। और असाता वेदनी कर्मका बन्ध बुरे काम (अनीति और असदाचार) करनेसे होता है।

मोहनी कर्मके कारण—(दर्शन मोहनी कर्मके बंधके कारण) देवके स्वरूपमें अवर्णवाद लगाना। श्वेतांबर दिगंबर और स्थानक वासियोंको एकरूप बनानेके लिये देवके रूपमें परिवर्तन करना, परिवर्तन करनेके लेख लिखना, मूर्ति (अरहंत भगवान) पूजा बंद करना मिथ्या देवोंकी प्रशंसा करना (जैसे पढे लिखे अपनी प्रतिष्ठाके लिये सब देवोंकी प्रशंसा करते हैं) रजस्वला स्त्रीसे भगवानकी पूजन व अभिषेक करनेका उपदेश देना, शूद्रके हाथसे भगवानकी मूर्तिकी अवहेलना करना, भगवानकी मूर्तिको तोड़नेका उपदेश देना, ग्लानि करना, मंदिरमें कामसेवन करना सो दर्शन मोहनी कर्मके बंधके कारण हैं।

धर्मका स्वरूप परिवर्तन कर व्यभिचार (विधवा विवाह) में धर्म बतलाना जिनधर्ममें अवर्णवाद लगाना, आगमकी मर्यादाका लोप करना। आगमको मिथ्या बतलाना आगममें अवर्णवाद लगाना। गुरु मुनि और आचार्य महाराजको निंदा करना, मुनि

योंको व्यभिचारजात कहना। संघका अवर्णवाद करना। व्यभिचारियोंको ब्रह्मचारी कहना। श्रावकको मलिन व कलंकित करनेके लिये आगमकी आज्ञाको न मानना। सो सब दर्शन मोहनीय कर्मके कारण हैं।

चारित्रमोहनीय कर्मके कारण—कषायके वश होकर धर्मके पवित्र स्वरूपको मलिन बनाना। धर्मकी पवित्रताका नाश करना, श्रावकको पवित्र क्रियाका लोप करना, मुनिक्रियाओंका लोप करना, चरणानुयोगके स्वरूपमें परिवर्तन करनेके लिये जिनागम विरुद्ध धर्मका स्वरूप बतलाना, परिणामोंकी लग्न विषयकषाय और पापवासनामें लगाना, विषयकषायके सेवन करनेमें धर्म मानना। सो चारित्रमोहनीयकर्मबंधके कारण हैं।

नीति, सदाचार, धार्मिक संस्कारका लोप करना, विवाहको सामाजिकबंधन बतलाकर आगमके विरुद्ध पाप-प्रवृत्ति करना सो सब चारित्र मोहनीय कर्मके कारण हैं।

विधवाओंका विवाह कराना, आचारसे भ्रष्ट करना, सो भी चारित्रमोहनीयकर्मके बंधका कारण हैं।

बिना छाना पानी पीना, मांस भक्षण करना, शूद्रके हाथका भोजन करना सो भी चारित्र मोहनीय कर्मके बंधका कारण हैं।

क्रोध करना, मान करना, लोभ करना और मायाचारसे धर्मके भेषको धारण कर लोगोंको ठगना—कषाय भावोंसे लोगोंको पापमार्गमें लगाना सोभी चारित्रमोहनीयकर्मके बंधके कारण हैं।

नरक आयुकर्मके बंधके कारण—तीर्थका पैसा खाना, तीर्थ-

का लोप कर अपना घर बनाना, तीर्थ पर आसादना करना, देव द्रव्यको भक्षण करना, बहुत संसारके बढ़ानेका पापमार्ग बतलाना हिंसादि पापोंका आरंभ करना अधिक मूर्छाजनित परिणाम रखना सो नरक आयुके बंधके कारण हैं।

मुनियोंको उपसर्ग करना, शीलसे भ्रष्ट कराना, आगमको जलाना आगम शास्त्रों पर सोना, आगम शास्त्रको पावोंसे कुचलना, आगमके अर्थमें मनमाना भाव मिला देना सो भी नरकायुके बंधके कारण हैं।

तिर्यंच आयुकर्मके बंधके कारण–मायाचारसे रहना मायासे धर्मभेष धारण कर पापाचरण सेवन करना, कुटिल परिणाम रखना, सो सब तिर्यंच आयुकर्मबंधके कारण हैं।

मनुष्य आयुकर्मबंधके कारण–संतोषसे नीति पूर्वक चलना, धर्मका पवित्रताका उद्देश्य रखकर अपना व्यापार-व्यवहार चाल-चलन पवित्र रखना, देवपूजा गुरुसेवा स्वाध्याय संयम और दान करना भगवानकी आज्ञाको मानकर आगमविरुद्ध नहीं चलना, शीलव्रत पालना जीवोंकी दया करना, सत्य बोलना सो सब मनुष्य आयुके कर्मबंधके कारण हैं।

देव आयुकर्मबंधके कारण–जिनधर्मका उद्योत करना जैन-धर्मकी प्रभावना आगमके अनुकूल करना, तपश्चरण करना सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि रखना, भगवानकी पूजा करना गुरुसेवा (वैयावृत्य) करना, जिनमंदिर और जिनायतनोंकी रक्षा करना ज्ञानी विद्वानों (जो धर्मके पंडित हैं) की सेवा करना, वात्सल्यभाव

धारण करना, जिनागममें संदेह नहीं करना, धर्मके स्वरूपमें वितंडावाद कर धर्मकी पवित्रताका नाश नहीं करना, प्राणोंसे अधिक प्यारे धर्मकी रक्षाके लिये सदैव तैयार रहना, तन मन धन धर्मकी रक्षा और उन्नतिमें लगाना सो देव आयु कर्मबंधके कारण हैं।

शुभ नामकर्मके बंधके कारण–मन वचनकायकी प्रकृति सरल व भोली रखना, ज्ञानके दुरुपयोगसे मन वचन कायकी प्रवृति चंचल धर्मविरुद्ध नहीं करना, बुद्धि व ज्ञानको विवेक पूर्वक रखना दूसरोंके दिव्य रूपको देखकर हसना नहीं, आंगोपाग छेदन नहीं करना, नासिकादि नहीं काटना, मुनिके शरीरको देखकर ग्लानि नहीं करना, रोगी मनुष्यकी सेवा करना, दुखी जीवोंकी रक्षा करना, षोडशभावना भाना, दशधर्मको पालन करना, देव गुरू और आगमकी श्रद्धा करना, साधर्मी भाइयोंकी रक्षा करना, सो सब शुभ नामकर्मबंधके कारण हैं।

अशुभ नामकर्मबंधके कारण–मन वचन कायको वक्र रखना दूसरोंको देखकर हंसना, रोगी मनुष्यको मार देना, दुखी मनुष्यके मारनेमें धर्म बतलाना, पागल कुत्तोंको मारनेमें धर्म बतलाना, असमर्थ प्राणियोंको मारनेमें हर्षित होना, जातिशंकरके कार्य करना, विजातीय विवाहका उपदेश देना, विधवाविवाहके प्रचारसे शील भ्रष्ट करना, यज्ञमें जीववधका उपदेश देना, धर्मात्मा भाइयों को पीडा देना, धर्मात्मा भाइयोंके साथ विसंवाद कर मनमाना पापकर्म करना व भोली समाजसे पापकर्म कराना सो सब अशुभनामकर्मबंधके कारण हैं।

ऊच गोत्र कर्मबंधके कारण—पवित्र सदाचारका उपदेश देना जनतामें पवित्र सदाचारकी वृद्धि करना अपने कुलका गौरव रख-कर कुलमें मलिन काय (विधवा विवाह विजातीय विवाह) कर कलंकित नहीं करना। व्रतोंकी रक्षा करना। शीलव्रतोंकी महि-माका प्रचार करना। जैनविधिसे विवाह कराना, संस्कारोंकी वृद्धि करना, गुरुओंकी रक्षा करना, धर्मायतनोंकी रक्षा करना, गुरुओंकी आज्ञा शिरोधार्यकर किसी भी भाईसे विसंवाद नहीं करना, साधर्मी भाइयोंके साथ निष्कपट व्यवहार करना सदाचा-रकी समस्त क्रियाओंका पालन करना सो ऊचगोत्रका कारण है।

रसोईकी शुद्ध क्रियाको लिये जितना उत्तम और उत्कृष्ट विचार किया जावेगा उतने ही परिणाम ऊंचगोत्रके अधिक होंगे।

शूद्रके हाथका पानी नहीं पीना, मलिन और रजस्वलाके हाथ का पानी पीना, विनाछाना पानी नहीं पीना, निद्य लोकके हाथका पानी नहीं पीना, मुर्दा जलाकर आये हुए-अशौच (शुद्धि नहीं की) मनुष्यके हाथका पानी नहीं पीना, मलिन आहार (बजारकी पूडी आदि) नहीं भक्षण करना-पिंडशुद्धि पालन करना, वस्त्र शुद्धि मनशुद्धि रखना और पंचपरमेष्ठीकी विनय करना सो सब ऊंच गोत्र हैं।

नीच गोत्रके कर्मबंधके कारण—मलिनाचार धारण करना अभिमानसे अन्य दीनहीन प्राणियोंको तुच्छ समझ कर उनको हानि पहुंचाना। उनको मारण ताडन करना अपने कुलमें दुष्ट काम करके कलंक लगाना सदाचारमें बट्टा लगाना, भोले भाइयोंको

पतित करना-धर्म भ्रष्ट करना, शीलकी मर्यादा लोपना, खान पानमें विवेक नहीं रखना, नीच मनुष्यके साथ भोजन करना, अभक्ष्य सेवन करना, मद्य मांस मधु सेवन करना, अनार्य लोगोंका उच्छिष्ट खाना, मर्यादा विरुद्ध पदार्थ सेवन करना, साधर्मी भाइयोंसे तकरार कर उनको पवित्र आचरणसे गिराना, संस्कार लोप करानेके लेख लिखना, कुलाम्नायका नाश करना, बिना छाना पानी पीना, अपनी प्रशंसा करना और दूसरोंकी निंदा करना; संस्कृत नहीं पढ़े लिखे होने पर भी अपनेको मानो संस्कृतका पंडित प्रगट करना, और संस्कृत पढ़े लिखे ज्ञानियोंकी दिल्लगी उड़ाना, अपने निंद्य पापमय मलिनाचारोंको छिपाना, और दूसरोंके उत्तमआचारोंको मलिन बनानेका प्रयत्न करना, धर्मकी पवित्र आज्ञाको अपने ज्ञानकी दुर्गंधतासे अपवित्र बनाना, हीनाचार और पतित अवस्था दूसरे भोले भाईकी करके हसना दूसरोंका घर जलाकर तापना, दूसरोंकी संपत्ति पुत्र मित्रोंको देखकर झूरना, आमर्ष करना, द्वेष करना, मत्सरभाव रखना इत्यादि सर्व नीचगोत्रके कारण हैं।

कुशिक्षासे प्राय पढ़े लिखे (अपनेको ज्ञानी व पंडितकी डींग मार कर अपना मतलब बनानेवाले) ही मनुष्य नीचगोत्र कर्मबंधके कारणको अधिकतर उत्पन्न करते हैं। भविष्यमें तो नीचकुलमें जन्म लेवेंगे ही। परन्तु इस वर्तमान पर्यायमें भी तो वे नीच बननेमें ही अपना सौभाग्य समझते हैं। और प्रत्यक्ष नीच अछूवर्ण मनुष्योंके साथ खान पान करते हैं।

अन्तरायकर्म बंधके कारण—दानादिक पवित्र कार्योंमें विघ्न

करना, भोगोपभोग संपदामें विघ्न करना सो अन्तराय कर्म है।

दानान्तरायकर्म—मुनियोंको दान करनेमें विघ्न करना, धर्म तीर्थके दान कार्यमें विघ्न करना, जिनायतन और सप्तक्षेत्रमें दान करते हुए रोकना, मंदिरका द्रव्य जो तीर्थयात्रा-रथोत्सव जीर्णोद्धार प्रतिष्ठा और नित्य पूजनके लिये रखा है उसका भक्षण करना, तीर्थके प्रबंधक बनकर तीर्थका द्रव्य खाना आवश्यक धर्म कार्य बतलाकर चंदा एकत्रित करना और उसको खा जाना, पैसा कमानेके लिये नेता बनना सो सब दानान्तरायकर्मके बंधके कारण हैं।

भोगान्तराय—दूसरोंके भोग पदार्थोंको देखकर लालायित होना भोगोंके सेवन करनेमें विघ्न करना। नगर दाह करना, दूसरोंको खाते-पीते फले फूले देख कर उनको हानि पहुंचानेका इरादा करना, सो भोगांतराय कर्मबंधके कारण हैं।

उपभोगांतराय—दूसरोंके उपभोगोंके सेवन करनेमें विघ्न करना दूसरोंकी स्त्रीको ताकना। अन्नपानका निरोध करना, पींजरेमें पक्षियोंको रखना सो सब उपभोगांतराय है।

वीर्यान्तराय—व्रत तप आदिके धारण करनेमें शक्ति होनेपर भी अपनी असमर्थता प्रकट करना दूसरोंके व्रत भंग करना, इन्द्रियोंका छेद करना, विधवा विवाह कराना, भोगविलासोंमें मग्न होना। धार्मिक आचरणोंको ढोंग बतलाना, पशुओंके लिंगको काटना, भोगोंकी (विषय कषाय) लालसासे मग्न होकर अनुभवानंद प्रकट करना सो वीर्यान्तराय कर्मबंधके कारण हैं।

प्रत्येक प्रकृतियोंके संक्षिप्त आश्रवका दिग्दर्शन ऊपर किया है कितने ही कार्य ऐसे होते हैं कि जिनसे शुभकर्म प्रकृतिका बंध होता है। और कितने ही कार्य ऐसे हैं कि जिनसे केवल संसारको बढ़ानेवाला बंध होता है। कितने कार्योंसे सप्त परम-स्थान प्राप्त होते हैं। इसलिये समस्त कार्योंका बंध करनेवाले कारणोंका स्वरूप संक्षिप्तमें बतला देना परमावश्यक होगा।

सबसे दीर्घतर बंध मिथ्यात्व सेवन करनेसे होता है। कुदेव कुशास्त्र-कुगुरुका सेवा करना, सूर्य ग्रहणमें दान करना, गंगामें स्नानकर धर्म मानना, सती होना (जल मरकर) जैनधर्मकी हंसी करना, मुनीश्वरोंकी निन्दा करना, शास्त्रोंकी प्रमाणता और पवित्रताको नष्ट करना कुशिक्षामें दान देना जिस शिक्षासे धर्म-शास्त्रका खंडन किया जाय। और सदाचार पुण्य पाप तथा उनके फलोंका निषेध करना, केवल इन्द्रियप्रत्यक्ष पदार्थोंको मानना आदि नास्तिक भावोंका पैदा करनेवाली विद्याका कुशिक्षा कह-ते हैं। अपात्रमें दान देना, मिथ्यामार्गको बढ़ाना, धर्मशास्त्र विरुद्ध कार्य करना, राजाके विरुद्ध षटयंत्र रचना, वन दाह करना, कतले आम मचाना, मक्खियोंके छत्ताको तोड़ना कसाईखाना खोलना, मंदिर तोड़ना, शास्त्रोंपर सोना खाना पीना, मूर्तिको तोड़ना, मुनिहत्या करना मांस खाना, झूठे दस्तावेज बनाना। मलिन मायाचारपूर्ण भाव रखना अति रौद्र परिणामसे संसा-रको हानि पहुंचाना धर्मात्मा भाइयोंको ठगना इत्यादि सर्व दीर्घ संसारके कारण हैं।

संस्कारोंका पालन करना जैनधर्मको पवित्र भावोंसे सेवन करना, देव शास्त्र गुरुकी श्रद्धा करना, जिनपूजन करना, व्रत धारण करना, सम्यक्दर्शनके आठ अंगोंका पालन करना, प्राणोंको नोछावर कर जिनधर्म और जिनायतनोंकी रक्षा करना, धर्मायतनो में दान देना, सप्तक्षेत्रको पुष्ट करना, जैन धार्मिक विद्यालय और धर्मात्मा पंडितोंकी तन मन धनसे प्रेमपूर्वक सहायता करना सो सब संसारको अंत करनेके कारण हैं। पुण्यकार्य हैं।

पुण्यप्रकृतियोंके उदयसे जीवोंको सुख प्राप्त होता है। और पाप प्रकृतियोंके उदयसे जीवोंको दुःख प्राप्त होता है। धन भोग संपदा स्त्री पुत्र मित्र महल हाथी घोडा रत्न, नोकर चाकर आदि साधन पुण्यकर्मके फल हैं। दुख दरिद्रता पुत्र वियोग, स्त्री वियोग-रोग अल्पायु—चिंता शोक संताप—अनिष्ट संयोग आदि पापकर्मोंका फल है। इसलिये पुण्यकार्यको सदैव करते रहना चाहिये। भावोंकी संभाल रखकर पुण्यकार्य करना चाहिये। परिणामोंकी निर्मलताके साथ पुण्यकार्य किये जाय तो अचित्य फल प्रदान करते हैं। पुण्यकार्योंमें गृहस्थोंके लिये दो मुख्य कार्य हैं पूजा और दान। षट्आवश्यक कार्य ये सब पूजा और दानके ही भेद हैं व्यापार और पंचसूना पापोंसे जो परिणामोंमें मलिनता प्राप्त होती है, वह जिनपूजन और दानसे नष्ट हो जाती है परिणामोंमें निर्मलता आती है यहापर दान शब्दका अर्थ सुपात्रदान या सप्तक्षेत्र दान ही समझना चाहिये, कुपात्र और कुशिक्षामें प्रदान किया हुआ दान मिथ्यात्वका कारण होनेसे उलटे परिणा-

सोंको मलिन बनाना है जिससे नरकादि दुर्गति होती है। "अंध -कूपे वरं क्षिप्त" अर्था कुआमें धनको जानबूझकर पटक देना और सुखी मानना अच्छा है परंतु कुशिक्षा (धर्मविरुद्ध शिक्षा शिक्षि-तोंके बोर्डिंग स्कूल और मिथ्या ग्रन्थोंको पढ़ाईके लिये दान देना अच्छा नहीं हैं) और कुपात्रमें दान देना अच्छा नहीं है।

लोग पुण्यके फल सुख धन संपत्तिको चाहते हैं परंतु पुण्य करना नहीं जानते या पुण संपादन करना आता नहीं है। भगवा-नकी पूजा और पात्रदानको भूलकर व्यसनोंकी वृद्धिमें दान देते हैं। स्वाध्यायके बदले उपन्यास व अखबार पढ़ते हैं। पूजाके बदले व्यभिचारके प्रचारकी बातें करते हैं।

इसी प्रकार फल दुख दरिद्रता रोग शोक पीडा आदिको चाहते नहीं हैं। परंतु करते हैं पाप। परस्त्री सेवन, हिंसा–झूंठ चोरी और पापाचरणोंको सेवन करते हैं। परंतु पापकार्योंसे सुख नहीं प्राप्त होता है। दुख दूर नहीं होता है। दरिद्रता नष्ट नहीं होती है। किसी कविने कहा है कि—

पुण्यस्य फल मिच्छंति पुण्यं नेच्छंति मानवाः।
पापस्य फल नेच्छति पापं कुर्वन्ति मानवाः।

अर्थ—मनुष्य पुण्यके फल सुखको तो चाहते हैं। परंतु पुण्य-कार्योंको नहीं करते हैं। पापके फलको तो नहीं चाहते हैं परंतु पाप कार्योंको करते ही हैं।

मान बडाईके लिये विषयवासना और कषायकी पुष्टिमें एवं संसारकी वृद्धिमें मनमाना धन खर्च करता है कर्ज करके दान

करता है। शक्तिसे अधिक कार्य करता है। केदमें जाता है। राज्य विद्रोह मचाता है लोगोंको प्यारी २ मोहक बात सुनाता है और धर्मके लिये एक पाई नहीं देता है। रांडी भिरकी आदिकी मिजमानी दिल खोलकर मान वडाईके लिये करता है। उच्च कुलोत्पन्न पढा लिखा युवक मान वडाईके लिये मासका भोज देता है हजारों रुपया लुटाता है परन्तु धर्म कर्ममें एक पाई देना नहीं चाहता है। यह सब मिथ्यात्वके भावोंको व कुशिक्षाकी बलिहारी है।

इसलिये आचार्योंने बतलाया है कि भाई धर्म, प्रतिष्ठा लोभ और आशासे अधिक कीमती है उसको बराबर पहिचान बराबर परीक्षा कर निश्चय कर, अनुभव कर, निर्धारित कर, फिर भी बहुतसे पढे लिखे (अपनेको ज्ञानीका नगाड़ा अपने मुंहके द्वारा ही पीटने वाले) कुशिक्षित स्त्रीके लोभमें धर्मको छोड देते है। जाति पांतिका लोप करते हैं छूताछूतका झगडा मिटाना चाहते हैं। जरासे टुकडेके लिये चट पट धर्मको छोड देते हैं। जरासी वाह वाहीके लिये धर्ममें कलंक (विधवाविवाह आदि द्वारा) लगाते हैं। यह सब कुशिक्षाका फल है।

आचार्योंने गृहीत मिथ्यात्वका मार्ग कुशास्त्रोंका अध्ययन बतलाया है। वर्तमान समयकी पश्चिम पद्धतिकी शिक्षामें कुशास्त्रोंका हो खुलम खुला पठन पाठन होनेसे कोमल बच्चों व बालकोंके हृदयमें ग्रहीत मिथ्यात्वके अंकुर स्वयमेव उत्पन्न हो जाते हैं इसका फल यह होता है कि कुशिक्षाकी वासनासे धार्मिक

भाव उठ जाते हैं। और मांस भक्षण मदिरा पान, मौजमजाके भाव जाग्रत हो जाते हैं। रात्रिमें भोजन करना नीच मनुष्यके हाथ का खाना पाप कर्मोंमें धर्म मानना आदि समस्त दुराचरण आजाते हैं। और ऐसे भावोंसे ही तीव्र कर्म बन्ध होता हैं। इसलिये विवेक पूर्वक चलना चाहिये। सद्बुद्धिसे कार्य करना चाहिये। सदाचार और नीति मार्गको भूल जाना नहीं चाहिये। व्यभिचारमें धर्म नहीं मानना चाहिये। जिससे अनंत संसारका बंध हो।

भव्य प्राणियोंका प्रधान कर्तव्य है कि जहां तक हो मिथ्यात्वका सर्वथा त्याग करे। तथा पुण्य कर्मोंको मोक्षमार्गकी अभिलाषा (उद्देश्य) से सेवन करे। अपने कर्तव्य पवित्र और उत्तम बनावें सच्चरित्र बने और सर्व समाजको या जीवमात्रको सच्चरित्र बनानेका उपदेश देवे। सब जीवोंको आत्मबंधु समझकर सन्मार्ग पर लानेका प्रयत्न करे। यह नहीं कि हाथमें दीपक लेकर स्वयं कुआमें गिरे तथा भोले भाइयोंको भी कुआमें गिरानेका प्रयत्न करे।

जो लोग पुण्य पापको जानते हैं, वे कर्म बंधको जानते हैं वेही संसार और मोक्षको जानते हैं, सुख दुखको जानते हैं, भलाई बुराईको जानते हैं। हिताहितको पहचानते हैं, कर्तव्य और अकर्तव्यको जानते हैं।

जिनको सुखी होनेकी इच्छा है। जिनको दुखोंसे डर है जिनको संसारका अन्त करना है जिनको अपनी उन्नति करना है। जिनको स्वतन्त्र बनना है उनको चाहिये कि सर्व संकल्प विकल्पों

को छोड़ कर और देव शास्त्र गुरुका श्रद्धान कर पुण्यके कार्य देव पूजा सत्पात्रमें दान, शुद्ध अन्न पान सेवन, आचार विचारोंकी शुद्धता, पिंड शुद्धि कुल शुद्धि जाति शुद्धि आदि को कायम रख-कर सदाचार और सच्चरित्रसे अपनी आत्माको भूषित करे। पापाचरणोंको छोडे। कुशिक्षामें धन व्यय न करे। कुसंगतिसे बचे।

पुण्य प्रकृतियोंके नाम, जिनसे जीवोंको सुख प्राप्त होता है

सातावेदनीय १ मनुष्यायु २ देवायु ३ तिर्यगायु ४ मनुष्यगति ५ देवगति ६ पंचेंद्रियजाति ७ पांच शरीर १२ तीन अंगोपांग १५ निर्माण १६ समचतुरस्रसंस्थान १७ वज्रवृषभनाराच संहनन १८ प्रशस्त स्पर्श १९ प्रशस्त रस २० प्रशस्तगंध २१ प्रशस्तवर्ण २२ मनुष्यगति प्रायोग्यानुपूर्व २३ देवगति प्रायोग्यानुपूर्व २४ अगुरुलघु २५ परघात २६ आताप २७ उद्योत २८ श्वासोच्छ्वास २९ प्रशस्तवि-हायोगति ३० प्रत्येक शरीर ३१ त्रस ३२ सुभग ३३ सुस्वर ३४ शुभ ३५ बादर ३६ पर्याप्ति ३७ स्थिर ३८ आदेय ३९ यशकीर्ति ४० तीर्थंकर ४१ ऊंच गोत्र ४२

इस प्रकार ४२ प्रकृति पुण्योत्पादक मानी है इन प्रकृतियोंके उदयसे जीवोंको सुखरूप पुद्गलों शुभकर्मोंका संबंध होता है। सब प्रकारके साधन प्रशस्त और उत्तम प्राप्त होते हैं।

पाप प्रकृतियोंके नाम, जिनसे जीवोंको दुःख प्राप्त होता है

पंचज्ञानावरण ५ नवदर्शनावरण १४ सोलहकषाय (अनंता-नुबंधी क्रोधादिक) ३० नोकषाय (हास्यादिक) ३९ मिथ्यात्व

४० पांच अन्तराय ४५ नरकगति ४६ तिर्यगति ४७ चार जाति (एक इन्द्रिय दो इन्द्रिय तीन-इन्द्रिय चार इन्द्रिय) ५१ पांच संस्थान ५६ पांच संहनन ६१ अप्रशस्तस्पर्श ६२ अप्रशस्तरस ६३ अप्रशस्तगंध ६४ अप्रशस्त वर्ण ६५ नरकगति प्रायोग्यानुपूर्व्य ६६ तिर्यगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य ६७ उपघात ६८ अप्रशस्त विहायोगति ६९ साधारण शरीर ७० स्थावर ७१ दुर्भग ७२ दुस्वर ७३ अशुभ ७४ सूक्ष्म ७५ अपर्याप्ति ७६ अस्थिर ७७ अनादेय ७८ अयशस्कीर्ति ७९ असातावेदनीय ८० नीचगोत्र ८१ नरकायु ८२ इसप्रकार ये ८२ प्रकृति पापोत्पादक मानी हैं इन प्रकृतियोंके उदयसे जीवोंको दुखकर साधन उत्पन्न होते हैं इसलिये इनका बंध नहीं करना चाहिये। इन प्रकृतियोंके बंध होनेके जो कार्य बताये गये हैं उन्हें नहीं करना चाहिये। फिर कारणके अभावमें कार्य भी नहिं होगा। जब बुरे कार्य नहीं करोगे तो बुरे कर्म भी नहीं बधेंगे।

सारासारका विचार।

ऊपर पुण्य प्रकृति और पाप प्रकृतियोंका निदर्शन कराया है, जिन कार्योंसे केवल पाप कर्मोंका आश्रव हो जीवोंको दुर्गति प्राप्त हो, रोग शोक संताप और दरिद्रता प्राप्त हो, ऐसे कार्य—हिंसा झूंठ चोरी कुशील पापाचरण अभक्ष्यभक्षण अन्याय सेवन-सप्त व्यसन मद्य मांस मधु भक्षण रात्रिभोजन और जिनागम तथा जिनगुरुसे द्वेष आदि भयंकर पापकार्योंको यथाशक्ति अहर्निश छोड़नेका ध्यान करना चाहिये विचार करना चाहिये। और यथासाध्य छोड़ना चाहिये।

आत्माका स्वभाव और आत्माका स्वरूप पर वस्तुसे सर्वथा भिन्न है शुद्ध बुद्ध ज्ञायकस्वभाव टंकोत्कीर्ण निर्मल अचल विमल परम वीतराग निरंजन परम पवित्र और सर्व उपाधि रहित सुख मय शांतिमय ज्ञानमय दर्शनमय अनंतवीर्यमय चिदानंदमय अक्षय अनंत स्वभाव मय आत्मा है। वह न तो पुण्यमय है और न पाप मय है। पुण्य पापसे सर्वथा भिन्न है। संसारके समस्त पदार्थ आत्माके एक भी उपयोगी नहीं हैं। कोई भी पदार्थोंसे आत्माका संबंध नहीं है जिससे कि आत्माको इन संसारी पाप पुण्य पदार्थोंसे लाभ या हानि होसके इसीप्रकार आत्मा अजर अमर अक्षय है निराकार है अमूर्तीक है अनादि निधन है। अव्यय है अनंत है इसलिये आत्मा न तो स्त्री है न पुरुष है न नपुंसक है न गोरूप हैं, न नरक रूप हैं न देवरूप हैं न तिर्यंचरूप हैं न क्रोधी हैं न मानी है न लोभी हैं न मायावी हैं। इन समस्त प्रकारके जालसे रहित परम विशुद्ध स्वस्वभावमें परणत ज्ञानदर्शनमय है। यह शुद्धआत्माका स्वरूप है। परन्तु संसारी आत्मा कर्मोंसे बद्ध है।

इसलिये पुण्यकर्मके उदयमें हर्षित होना, या पापकर्मके उदयमें दुखी होना, संतापित होना यह विवेकी पुरुषका कार्य नहीं है पुण्य पाप दोनोंप्रकारकी परणति पर अपने भावोंको न रखकर पुण्य पाप फलोंकी इच्छाका परित्याग कर अपने आत्म स्वरूपकी भावना करना चाहिये।

इस लिये किसी भी पदार्थमें राग नहीं करना चाहिये किसी भी पदार्थको आत्मस्वरूप नहीं समझना चाहिये। किसी भी पदा-

र्थको सुखरूप नहीं मानना चाहिये (क्योंकि सुख एक आत्मा-काही धर्म है) किसी भी पदार्थकी प्राप्तिकी इच्छा नहीं करनी चाहिये या संसारके पदार्थोंकी प्राप्तिके लिये लालसा नहीं रखना चाहिये ममत्व भी परिणामोंसे किसी पदार्थके सेवनका न करना चाहिए किसी भी पदार्थकी प्राप्तिके लिए आर्त्तरौद्रपरिणाम नहीं करना चाहिये। अमुक पदार्थ की प्राप्ति नहीं होगी तो मेरा अनिष्ट होगा मरण होगा इस प्रकारकी भावना नहीं करना चाहिए।

कोई भी किसीका दुश्मन नहीं है कोई भी किसीको हानि नहीं पहुंचाता है न कोई किसीको मार सका है न किसीको कोई जन्म देसका है न कोई किसीका पालन पोषण कर शरणभूत रख सका है इसलिए किसीके साथ द्वेष नहीं करना चाहिए। किसी भी पदार्थकी प्राप्तिसे शोकातुर नहीं होना चाहिए।

पदार्थोंके स्वरूपको जाननेवाला भव्यजीव समस्त पदार्थोंसे अपनेको भिन्न समझे समस्त पदार्थोंका कर्ता या भोक्ता नहीं माने मैं इस पदार्थका भोगनेवाला हूं ऐसा भी विचार अपने भावोंमें नहीं रक्खे। अपनेको सर्व पदार्थसे सर्वथा अलिप्त माने। धन पुत्र मित्र गृह स्त्री ये तो प्रत्यक्ष भिन्न हैं ही परन्तु अपने शरीरको भी अपनेसे सर्वथा भिन्न माने—इतना ही नहीं द्रव्यकर्म और भाव कर्म अथवा मतिज्ञान आदिके भावोंको भी अपना स्वरूप नहीं माने। इन्द्रिय और मनके कार्य भी अपने नहि हैं ऐसा सर्वथा जाने। इसलिए इन्द्रिय और मनके संतोषार्थ हिंसा झूंठ चोरी

पापाचार—कुशील—अन्याय—अनीति-कपट-विश्वासघात मारन ताडन आदि पापकर्मोंको कभी नहीं करे।

परन्तु जीव इस समय अशुद्ध अवस्थामें है कर्माधीन है इस-लिए ऐसा व्यवहार ऐसी नीति और ऐसे आचरणोंको करे जिससे आत्मा अपने स्वरूपको प्राप्त होजाय ? अपने अनंतज्ञान–अनंतदर्शन अनंतवीर्य और अनंतसुख एवं सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चा-रित्र रूप निधिको प्राप्त होजाय। अजर अमर अक्षय अनंत अवि-नाशी अविनश्वर नित्य निराबाध–निप्रकंप अचल वन जाय। इसलिए पुण्यकार्योंकी प्राप्तिके लिए उद्योग करे क्योंकि पुण्यके विना जिनधर्मकी प्राप्ति नही होसकती है पुण्यके विना श्रावक कुल प्राप्त नहीं होता है पुण्यके विना नीरोग शरीर प्राप्त नहीं होता हैं पुण्यके विना सप्त परम स्थानोंकी प्राप्ति नहीं होती है पुण्यके बिना आचार विचार और धर्मको धारण करनेवाला उत्तम गोत्र प्राप्त नहीं होता है।

पुण्यके विना निराकुलताके साधन स्त्री पुत्र धन संपदा प्राप्त नहीं होती है। पुण्यके विना ध्यानके लायक उतम संहननोंकी प्राप्ति नहीं होती है। पुण्यके विना पूर्ण आयु प्राप्त नही होती हैं। पुण्यके विना मोक्षमार्गके समस्त साधन प्राप्त नहीं होते हैं पुण्यके विना जगतके परम उपकारी निःकारण बंधु परम पवित्र दिगंबर गुरुओंका समागम भी नही होता है जिससे जीव धर्मको ग्रहण कर संसारके दुःखोंसे छूटकर परमसुखको प्राप्त हो। पुन्यके बिना भगवानकी पूजा और सत्पात्रमें दान देनेके भाव तक नहीं

होते हैं पुन्य बिना श्रावकाचारकी आज्ञाको पालन करनेके भाव नहीं होते हैं बल्कि श्रावकाचारकी आज्ञाको मलिन और दुष्ट बनानेके भाव होजाते है। पुन्यके बिना रसोईकी शुद्धि-चौकाकी शुद्धि अन्नपानकी शुद्धि पिंडशुद्धि संस्कार शुद्धि और भावोंकी शुद्धि नहीं होती है। इसलिए आचार्योंकी जगतके भलाईके लिए एक यही आज्ञा है कि भव्यजीवो अपना सुख चाहते हो तो पुण्य संपादन करो। जिनपूजन करो। सत्पात्रमें दानदो स्वाध्याय करो। उपवास करो जपतप करो। कुशिक्षाको एकदम त्याग करो कुसंगतिको छोड़ो। मिथ्यात्वको छोड़ो। जिनागमकी आज्ञा सर्वज्ञ प्रभुकी आज्ञा समझकर एक अक्षरकी भी शंका मत करो। अपने ज्ञान और बुद्धिमें पदार्थोंके समझनेकी ताकत न हो तो मोह जालमें पड़कर आगमको कलंकित करनेका उद्योग मत करो अपनी आत्मा पर सबसे प्रथम दया पालो जो स्व (अपनी आत्मा की) हिंसाका त्याग होगा तो संसारके समस्त जीवोंकी हिंसाका त्याग होजायगा जो स्वआत्माकी (अपनी आत्माकी) दया पालनकी जायगी तो संसारके प्राणी मात्रकी दया पालन हो जायगी। परन्तु यह पापी जीवड़ा दूसरोंके उपकार भावोंको दिखाता हुआ (मान बडाई या स्वार्थके लिए) दूसरोंकी दया करनेका ढोंग खूब पीटता है परन्तु अपनी आत्माकी दया रंच मात्र नहीं करता है। मायाचारसे दुनियांको ठगता है। कहता है कि स्त्रियोंपर दया करो और भावना रखता है उनके साथ व्यभिचार सेवन करनेकी। कहता है कि अपनी उन्नति करो और

चाहता है उनसे प्रतिष्ठा धन तथा मौजमजा। कहता है कि धर्म करो और उपदेश देता है (मलिनवासनाकी भावना मनमें रखकर) कि इंद्रियोंको पुष्ट किए विना शरीरमें कुव्वत नहीं होगी और उसके विना धर्म नहीं होगा। कहता है कि समाजकी संख्या घटी और इशारा करता है मिथ्यादृष्टि मद्य मांस भक्षण करनेवालोंके साथ भोजन पान करनेको। कहता हैं देवकी पूजा करो परन्तु एकांतमें बतलाता है कि ये सब ढोंग है। कहता है कि देवको पहिचानो परन्तु दिगंबर श्वेतांबर या अन्य समस्त देवोंकी विनय करनेके कार्य करता है। ऐसे लेख लिखता है जिससे देवकी परीक्षा न होसके। कहता है मैं जैनी हू परंतु देव गुरु और शास्त्रको मानता हो नहीं। कहता है मैं जैनियोंका पंडित (मैंने जैनियोंके धर्मकी क्रिया सीखनेके लिए और धर्मकी सेवा करनेके लिए हजारों रुपया समाजके दान धर्मके खाए) और मानता नहीं है जिनागम। तथा जिनागमकी नय निक्षेप प्रमाण कोटिको प्रमाण नहीं मानता है आगमको ही तोड़कर आगमके विरुद्ध मलिन कार्योंको आगममें प्रवेश करा देना चाहता है सत्यको नष्ट कर झूंठमें धर्म बतलाना चाहता है; कोई जातिपांति तोड़नेमें समुन्नति बतलाता है और इसके द्वारा धर्म कर्म एव पवित्र आचरणोंको नष्ट करना चाहता है। कोई स्वराज्यप्राप्तिका प्रलोभन देकर खादी पहरनेमे धर्म बतलाता है राजद्रोह करनेमें धर्म बतलाता है कैद जानेमें धर्म बतलाता है आत्महत्या और पर हत्यामें धर्म बतलाता है कोई कहता है कि हमारे हृदयमें दया है, हम सबको एक

अपने अन्तरंगको पवित्र रखो मनकी शुद्धि करो। ज्ञानकी शुद्धि करो। फिर अपने आचरण शुद्ध करो तो पुण्यकर्म संपादन कर सकोगे।

जिनका मन मैला है। जिनका हृदय कलुषित है, जिनका पेट साफ नहीं है जिनके भाव मैले हैं जिनके परिणाम मलिन हैं जिनकी बुद्धिपर कुशिक्षा और कुसंगतिका मैला परदा पड़ा हैं वे धर्मका कितना ही ढोंग बतलावें परन्तु वे धर्म कर्मको जानते ही नहीं। वे पुण्य और पापको समझतेही नहीं हैं। और इसीलिये वे पुण्यकार्यको करना नहीं चाहते हैं। तथा पापकर्मको छोड़ना नहीं चाहते हैं।

हे भाई! जो तू अपना हित चाहता है तो सत्यभावोंसे धर्मकी परीक्षा कर। सत्यासत्यका विचारकर राग द्वेष पक्षपातको छोड कर विचार कर। नय निक्षेपके द्वारा वस्तु स्वरूपको विचार अपना मतलब या दुष्ट अभिप्रायको सामने मत रख। मनको पवित्र रख कर और बुद्धिकी पवित्रताको बराबर स्थिर रखकर धर्मकी परीक्षा कर। अपनी बुद्धि (मलिन बुद्धि) के योग्य तर्क पर विश्वास मत कर किंतु अपनी बुद्धि और ज्ञानको आगमके अनुकूल रख कर तर्क कसौटीपर धर्मकी परीक्षाकर। अपने पवित्र भावोंकी अनुभव अग्निके द्वारा धर्मरूपी सुवर्णको तपाकर परीक्षाकर परन्तु अहित-मदोन्मत्त और स्वच्छंद बनकर धर्मकी परीक्षा मतकर, देखना जो तूने लोगोंके देखादेखी मदोन्मत्त बनकर धर्मकी परीक्षाकी तो तू सबसे प्रथम अपनी आत्माकोही ठगेगा ठहर जरा धैर्य रख जरा सोचविचार

कर कार्यकर। खूब गहरा विचारकर मनको स्थिर रखकर विचार कर बुद्धि परसे रागद्वेषका परदा उठाकर विचार कर और सत्य-भावोंसे अपने हितको पहिचान अपनी भलाई बुराई अपना सुख दुख अपना मार्ग कुमार्ग देख। जो उत्तम हो जिसमें निराकुलता हो जिसमें सत्यता हो, जिसमें दुख नहीं हो, जिससे आत्मा पतित न बनता हो, जो संसारके मार्गको नहीं बढ़ाता हो, जो कर्मका नाश करता हो, जो आत्माको निर्मल बनाता है। जो अनन्तज्ञानदर्शन सुखवीर्य प्रकट करता है, उस धर्मको धारण कर। सच्चे भावोंसे धारण कर, मायाचार छोड़कर धारणकर, अनीति और दुर्भावोंको छोड़कर धारण कर। अवश्य सन्मार्ग मिलेगा। विषय कषायोंकी विजय अवश्य ही की जायगी। कर्म बंधन अवश्य ही तोड़े जायंगे बंधन मुक्त अवस्था अवश्य प्राप्त होगी। स्वतंत्रताको अवश्य प्राप्त करेगा जन्म मरणके फंदसे अवश्य ही मुक्त होगा; पापोंसे छूटेगा और पुण्यको प्राप्त होगा। दुःखोंसे मुक्त होगा और सुखोंको प्राप्त होगा अचल अविनाशी अनुपम निराबाध राज्यको प्राप्त होगा।

चक्रवर्तीपद नारायणपद-प्रतिनारायणपद मंडलेश्वर पद सार्वभौमपद सम्राटपद आदि,महान पदको प्राप्त होगा।

जगसे भौतिक स्वराज्यके लिये (जिसका मिलना हाथमें नहीं, है) भंगियोंके साथ भोजनपान रोटी-बेटी करना चाहता है। विधवा विवाह करना चाहता है हिंसा करना चाहता है कपट, और पापाचारसे दुनियाको ठगना चाहता है, अनीति और अघ-मेंमें संसारको ढकेलना चाहता है। मरना चाहता है और दूसरोंको

मारना चाहता है। अरे। भाई! इस प्रकार अपनी आत्माको पतित मत बना। कर्म बंधका विचार कर, पुण्य और पापके स्वरूपको विचार, और अपनी आत्माको संभाल जिस प्रकार भावोंकी विशुद्धि स्थिर हो जिस प्रकार परिणामोंमें निर्मलता प्राप्त हो जिस प्रकार सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति हो अथवा सम्यग्दर्शनकी दृढ़ता हो वह कार्य कर जिससे तेरा अवश्य ही भला होगा।

पुण्य पाप प्रकृतियोंके विषयमें अंतिम दो शब्द

पुण्य पाप प्रकृतियोंके विषयमें प्रकाश डाला जाचुका है। तो भी मुख्य दो बातोंको ध्यानमें रखना चाहिये। सबसे निकृष्ट अनंतानंत दुखको प्रदान करनेवाली अनन्तानंत संसारमें परिभ्रमण करानेवाली तीन लोक और तीन कालमें मिथ्यात्वके समान अन्य कोई पाप प्रकृति नहीं है। पाप प्रकृतियोंकी जन्मदाता मिथ्यात्व प्रकृति है। एक मिथ्यात्व प्रकृतिका उदय है तो समस्त पापप्रकृतियोंका उदय नियमसे है ही, मिथ्यात्व प्रकृतिके कारण ही कर्म बंध (संसारका) होता है कर्मबंधके कारण—मिथ्यात्व-अविरत[२] प्रमाद-कषाय[४] और योग ये पांच कारण हैं परंतु पांचोंमें मुख्य एक मिथ्यात्व ही है अन्य चार अविरतादि कारण संसारके कर्म बंधके कारण नहीं है अविरतादि चार कारण मिथ्यात्वके साथ होवे तो तीव्रतम कर्मबंध होता हैं। घोर कर्मबंध होता है शीघ्र नहीं छूटनेवाला कर्मबंध होता है इसलिये भव्य जीवोंको प्रथम मिथ्यात्वका त्याग करना चाहिये।

पुण्य प्रकृतियोंमें सबसे उत्कृष्ट तीर्थंकर प्रकृति है तीर्थंकर प्रकृतिके उदयके प्रथम ही (गर्भावतार अवस्थाके छह महीना प्रथम ही) रत्नवृष्टि होती है। नगरीकी रचना होती है देव देवियां इन्द्र इन्द्राणी गर्भ महोत्सव और जन्म महोत्सव करती है तीन लोकके जीवोंको जन्मके समय सुख प्राप्त होता है तपकल्याण ज्ञान-कल्याण और निर्वाण कल्याणमें समस्त जगतके जीव उत्सव मनाते हैं। जैसा पुण्यका प्रभाव तीर्थंकर प्रकृतिके उदयसे होता है वैसा अन्य पुण्य प्रकृतिसे नहीं होता है। समोसरणका वैभव भी इसी प्रकृतिके उदयसे जगतको साक्षात बतला देता है कि इन्द्र चंद्र नागेन्द्र अहमिन्द्र चक्रवर्ती नारायण प्रति नारायण आदि किसीभी पुरुषको यह अतुल संपत्ति प्राप्त नहीं है इसलिये तीर्थंकर प्रकृतिके समान पुण्य प्रकृति अन्य नहीं है; परन्तु तीर्थंकर प्रकृतिका बंध सम्यग्दर्शनकी विशुद्धिसे होता है। इसलिये सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि जिस प्रकार जैसे जितने प्रयत्न द्वारा हो सके वह कार्य करना चाहिये।

सम्यग्दर्शनके समान तीन लोक तीन कालमें कल्याण करने वाला अन्य कोई भी नहीं है बंधु है तो सम्यग्दर्शन है निधि है तो सम्यग्दर्शन, संपति है तो सम्यग्दर्शन सुखका खजाना है तो सम्यग्दर्शन संसारसे पार होनेका साधन है तो एक सम्यग्दर्शन दुःखोंका नाश करनेवाला है तो एक सम्यग्दर्शन और कर्मबंधन तोडनेका उपाय है तो एक मात्र सम्यग्दर्शन।

इसलिये समस्त प्रयत्नोंके द्वारा सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति करो

देव शास्त्र गुरुकी अविचल श्रद्धा ही सम्यग्दर्शनको उत्पन्न करने वाली है। परंतु लोभ मोह प्रतिष्ठा गौरव आदिके प्रलोभनसे जिनागम जिनधर्म जिनगुरु और जिनदेवके स्वरूपमें किसी प्रकारका विपर्यास मत करो देव गुरु शास्त्रके स्वरूपको पैसाके लिये भोग विलासके लिये और मान बडाईके पानेकी गरजसे अन्यथा मत करो अपने मतलब (संसारकी इच्छाओंकी पूर्ति) के लिये देव शास्त्र गुरु और धर्मका स्वरूप परिवर्तन मत करो। देव शास्त्र गुरु धर्मकी सर्वोत्कृष्टता-सर्वोच्चता-परमपवित्रता और सर्वोत्कृष्ट निर्दोषताको नष्ट मत करो। पूर्णभावोंसे विशुद्ध परिणामोंसे देवशास्त्र गुरु और धर्मकी श्रद्धा करो बस इसीमें सबका हित है। इसीमें भलाई है और यही सुखका मार्ग है।

बधाबंधक प्रकृतियोंका विवरण

पांच ज्ञानावरण ५ नव दर्शनावरण १४ दो प्रकारकी वेदनीय १६ सोलहकषाय ३२ नव नोकषाय ४१ मिथ्यात्व ४२ चार प्रकारके आयुकर्म ४६ चारों प्रकारकी गति ५० पांच प्रकारकी जाति ५५ पांच प्रकारके शरीर ६० तीन आंगोपांग ६३ छह संहनन ६९ छह संस्थान ७५ स्पर्श ७६ रस ७७ गंध ७८ वर्ण ७९ चार आनुपूर्व्य ८३ अगुरुलघु ८४ उपघात ८५ परघात ८६ आतप ८७ उद्योत ८८ उच्छ्वास ८९ दो प्रकार विहायोगति ९१ प्रत्येक शरीर ९२ साधारणशरीर ९३ त्रस ९४ स्थावर ९५ सुभग ९६ दुर्भग ९७ सुस्वर ९८ दुस्वर ९९ शुभ १०० अशुभ १०१ सूक्ष्म १०२ बादर १०३ पर्याप्ति १०४ अपर्याप्ति १०५ स्थिर १०६ अस्थिर १०७ आदेय १०८ अनादेय १०९

यशःकीर्ति ११० अयशः कीर्ति १११ तीर्थंकर ११२-दो गोत्र ११४ पांच अंतराय ११६ निर्माण १२०

इसप्रकार एक सौ बीस प्रकृति बंधके योग्य होती हैं। नाना जीवोंकी अपेक्षा एक समयमें एकसौ बीस १२० प्रकृतियोंकाबंध हो सका है।

अबंधप्रकृति सम्यक्प्रकृति १ सम्यग्मिथ्यात्व २ पांच शरीर ७ पंच शरीर संघात १२ आठ स्पर्श १६ चार रस २३ गंध २४ चार वर्ण २८ ये अष्टाविंशति प्रकृति अबंध रूप हैं।

गुणस्थानोंकी अपेक्षा कृतियोंका विवरण

मिथ्यात्व गुणस्थानमें आहार शरीर आहारक अंगोपांग और तीर्थंकर प्रकृति इस प्रकार तीन प्रकृतिका बंध पहले गुणस्थानमें नहीं होता है इसलिए १२० प्रकृतियोंमेंसे तीन प्रकृति कम कर देनेसे एकसौ सत्रह ११७ प्रकृतियोंका बन्ध मिथ्यात्व स्थानमें हो सकता है।

मिथ्यादृष्टी जीवोंको एकसौ सत्रह प्रकृतिका बन्ध होता है इसलिये मिथ्यात्वका त्याग करना बहुत ही श्रेयस्कर है।

पांच ज्ञानावरण ५, नव दर्शनावरण १४ द्विधा वेदनी १६ सोलह कषाय ३२ हास्यादि षट ३८ स्त्री वेद ३९ पुंवेद ४० तिर्यंचायु ४१ मनुष्यायु ४२ देवायु ४३ तिर्यंच गति ४४ मनुष्यगति ४५ देवगति ४६ पंचेन्द्रिय जाति ४७ औदारिक शरीर ४८ वैक्रियक शरीर ४९ तैजस ५० कार्माण ५१ औदारिक आंगोपांग ५२ वैक्रियिक आंगोपांग ५३ निर्माण ५४ (समचतुस्र निग्रोध परिमंडल

स्वाति वामन कुब्जक संस्थान) ५९ (वज्रवृषभ नाराच वृषभ नाराच नाराच अर्ध नाराच कीलक) पांच संहनन ६४ स्पर्श ६५ रस ६६ गंध ६७ वर्ण ६८ (तिर्यगति मनुष्य गति देवगति आनुपूर्व) तीन आनुपूर्व्य ७१ अगुरु लघु ७२ उपघात ७३ परघात ७४ उद्योत ७५ उच्छ्वास ७६ द्विधाविहायोगति ७८ प्रत्येक शरीर ७९ त्रस ८० सुभग ८१ दुर्भग ८२ सुस्वर ८३ दुस्वर ८४ शुभ ८५ अशुभ ८६ बादर ८७ पर्याप्त ८८ स्थिर ८९ अस्थिर ९० आदेय ९१ अनादेय ९२ यशः कीर्ति ९३ अयशः कीर्ति ९४ द्विधागोत्र ९६ पंच अन्तराय १०१।

इसप्रकार एकसौ एक प्रकृतियोंका बन्ध दूसरे गुणस्थान (सासादन गुणस्थान) में होता है।

मिथ्यात्व १ नपुंसक वेद २ नरकायु ३ नरक गति आनुपूर्व्य ४ नरकगति ५ चार जाति (एकेन्द्रिय जाति दो इन्द्रिय जाति तीन इन्द्रिय जाति चार इन्द्रिय जाति) ९ हुंडक संस्थान १० असंप्राप्तासृपाटिका संहनन ११ आतप १२ स्थावर १३ साधारण १४ सूक्ष्म १५ अपर्याप्ति १६

इन सोलह प्रकृतियोंका बंध दूसरे सासादन गुणस्थानमें नहीं होता है इसलिये ये प्रकृति अबंधक हैं। क्योंकि ये प्रकृतियां पहले गुणस्थानमें ही बन्ध करती हैं।

पांच ज्ञानावरण ५ (चक्षु अचक्षु अवधि केवल निद्रा प्रचला) छह दर्शनावरण ११ द्विधा वेदनी १३ (अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यान संज्वलन) बारह कषाय २५ (हास्य द्विपद हास्य अरति रति शोक

भय जुगुप्सा ३१ पुंवेद ३२ देवगति ३३ मनुष्यगति ३४ पंचेन्द्रिय जाति ३५ चार शरीर (औदारिक वैक्रियक तैजस कार्माण) ३९ औदारिक आंगोपांग ४० वैक्रियक आंगोपांग ४१ निर्माण ४२ समचतुरस्र संस्थान ४३ वज्रवृषभ नाराच संहनन ४४ स्पर्श ४५ रस ४६ गंध ४७ वर्ण ४८ देवगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य ४९ मनुष्य गति प्रायोग्यानुपूर्व्य ५० अगुरु लघु ५१ उपघात ५२ परघात ५३ । उच्छ्वास ५४ प्रशस्त विहायोगति ५५ प्रत्येक शरीर ५६ त्रस ५७ सुभग ५८ सुस्वर ५९ शुभ ६० अशुभ ६१ बादर ६२ पर्याप्त ६३ स्थिर ६४ अस्थिर ६५ आदेय ६६ यशः कीर्ति ६७ अयशःकीर्ति ६८ ऊंच गोत्र ६९ पांच अन्तराय ७४

इसप्रकार ७४ चोहत्तर कर्म प्रकृतिका बंध सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानमें (तीसरे गुणस्थानमें) होता है।

निद्रा निद्रा १ प्रचला प्रचलता २ स्त्यानगृद्धि ३ चार अनंतानुबन्धि कषाय ७ स्त्री वेद ८ तिर्यगायु ९ मनुष्यायु १० देवायु ११ तिर्यग्गति १२ (निग्रोध परिमंडल स्वाति वामन कुब्जक) चार संस्थान १६ (वृषभ नाराच नाराच अर्द्धनाराच कीलक) चार संहनन २० तिर्यग्गति प्रायोग्यानुपूर्व्य २१ उद्योत २२ अप्रशस्त विहायोगति २३ दुर्भग २४ दुस्वर २५ अनादेय २६ नीच गोत्र २७

इस प्रकार २७ सत्ताईस-कर्म प्रकृतियोंका कर्म बंध तीसरे मिश्र गुणस्थानमें नहीं होता है। इसलिये २७ प्रकृति यह तीसरे गुणस्थानमें अबन्धक है।

चौथे गुणस्थानमें—

पांच ज्ञानावरण ५ (चक्षु—अचक्षु अवधि केवल निद्रा प्रचला) छह दर्शनावरण ११ दो वेदनी १३ बारह कषाय (अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यान संज्वलन) २५ हास्यादिषट् नौ कषाय ३१ पुंवेद ३२ देवगति ३३ मनुष्यगति ३४ पंचेन्द्रिय जाति ३५ चार शरीर (औदारिक वैक्रियिक तेजस् कार्मण) ३६ औदारिक आंगोपांग ४० वैक्रियिक आंगोपांग ४१ निर्माण ४२ सम चतुरस्र संस्था ४३ वज्र वृषम नाराच संहनन ४४ स्पर्श ४५ रस ४६ गंध ४७ वर्ण ४८ देवगति प्रायोग्यानुपूर्व ४६ मनुष्यगति प्रायोग्यानुपूर्व्य ५० अगुरु लघु ५१ उपघात ५२ परघात ५३ उश्वास ५४ प्रशस्त विहायोगति ५५ प्रत्येक शरीर ५६ त्रस ५७ सुभग ५८ सुस्वर ५६ शुभ ६० अशुभ ६१ बादर ६२ पर्याप्ति ६३ स्थिर ६४ अस्थिर ६५ आदेय ६६ यशः कीर्ति ६७ अयशः कीर्ति ६८ ऊंच गोत्र ६६ पांच अन्तराय ७४ मनुष्यायु ७५ देवायु ७६ तीर्थंकर ७७

इस प्रकार चौथे (अविरत गुणस्थानमें) ७७ प्रकृतियोंका कर्म बन्ध होता है।

पांचवे संयता संयत गुणस्थानमें—

पांच ज्ञानावरण ५ (चक्षु अचक्षु-अवधि-केवल निद्रा प्रचल) छह दर्शनावरण ११ दो वेदनी १३ आठ कषाय (प्रत्याख्यान संज्वलन) २१ पुंवेद २२ हास्यदिषट २८ देवायु २६ देवगति ३० पंचेन्द्रिय जाति ३१ (वैक्रियिक तैजस कार्मण) तीन शरीर ३४ वैक्रियिक आंगोपांग ३५ निर्माण ३६ समचतुरस्र संस्थान ३७

स्पर्श ३८ रस ३६ गंध ४० वर्ण ४१ देवगति प्रायोग्यानुपूर्व ४२ अगुरु लघु ४३ उपघात ४४ परघात ४५ उश्वास ४६ प्रशस्त विहायोगति ४७ प्रत्येक शरीर ४८ त्रस ४६ सुभग ५० सुस्वर ५१ शुभ ५२ अशुभ ५३ बादर ५४ पर्याप्ति ५५ स्थिर ५६ अस्थिर ५७ आदेय ५८ यशः कीर्ति ५६ अयशः कीर्ति ६० तीर्थंकरत्व ६१ ऊंच गोत्र ६२ पंच अन्तराय ६७

इस प्रकार ६७ सडसट प्रकृतियोंका बंध पांचवें देश विरत गुणस्थानमें होता है।

पांचवें गुणस्थानमें अबंध प्रकृति—

अप्रत्याख्यान कषाय ४ मनुष्य ५ मनुष्यगति ६ औदारिक शरीर ७ औदारिक आगोपाग ८ वज्र वृषभ नाराच संहनन ६ मनुष्य गति प्रायोग्यानुपूर्व्य १०

पांचवें गुणस्थानमें उक्त दश प्रकृतियोंका कर्मबंध नहीं होता है इसलिये ये प्रकृति अबंधक है।

छटे प्रमत्त संयत गुणस्थानमें—

पांच ज्ञानावरण ५ (चक्षु अचक्षु अवधि केवल निद्रा प्रचला) छह दर्शनावरण ११ दो वेदनी १३ संज्वलन कषाय १७ हास्यादि षट नो कषाय २३ पुंवेद २४ देवायु २५ देवगति २६ पंचेन्द्रिय जाति २७ चार शरीर (वैक्रियिकाहारक तेजस कार्मण) ३१ वैक्रियिक आगोपांग ३२ आहारक आगोपाग ३३ निर्माण ३४ समचतुरस्र संस्थान ३५ स्पर्श ३६ रस ३७ गंध ३८ वर्ण ३६ देवगति प्रायोग्यानुपूर्व ४० अगुरु लघु ४१ उपघात ४२ परघात ४३

उश्वास ४४ प्रशस्त विहायोगति ४५ प्रत्येक शरीर ४६ त्रस ४७ सुभग ४८ सुस्वर ४६ शुभ ५० वादर ५१ पर्याप्ति ५२ स्थिर ५३ अस्थिर ५४ आदेय ५५ यशःकीर्ति ५६ अयश कीर्ति ५७ तीर्थंकरत्व ५८ ऊंच गोत्र ५६ पांच अंतराय ६४.

इस प्रकार ६५ प्रकृति छट्टे गुणस्थानमें वंधरूप है ६५ प्रकृतियोंका कर्म बन्ध होता हैं।

छठे गुणस्थानमें (प्रमत्त गुणस्थान) प्रत्याख्यान क्रोध मान माया लोभ ये चार प्रकृति अवधक है-प्रत्याख्यान कषायका वंघ नहीं होता है।

सातवें अप्रमत्त गुण स्थानमें बंध होने योग्य प्रकृति—

पांच ज्ञानावरण ५ छह दर्शनावरण ११ सातावेदनी १२ चार संज्वलन कषाय (१६ हास्य १७ रति १८ भय १६ जुगुप्सा २० पु वेद २१ देवायु २२ देवगति २३ पचेन्द्रिय जाति २४ चार शरर (वैक्रियिक आहारक तैजस कार्मण) २८ वैक्रियिक आंगोपांग २६ आहारक आंगोपांग ३० निर्माण ३१ समचतुरस्र संस्थान ३२ आद्य संहनन ३३ स्पर्श ३४ रस ३५ गंध ३६ वर्ण ३७ देवगति ३८ अगुरुलघु ३६ उपघात ४० परघात ४१ उश्वास ४२ प्रशस्त विहायोगति ४३ प्रत्येक शरीर ४४ त्रस ४५ सुभग ४६ सुस्वर ४७ शुभ ४८ पर्याप्ति ४६ स्थिर ५० आदेय ५१ यशः कीर्त्ति ५२ तीर्थंकरत्व ५३ पांच अंतराय ५६

इस प्रकार सातवें गुणस्थानमें ५६ प्रकृतियोंका वंध होता है

सातवें गुणस्थानमें अवंधक कर्म प्रकृति—

असातावेदनी १ अरति २ शोक ३ अस्थिर ४ अशुभ ५ अयशः कीर्त्ति ६ ये छह प्रकृतियोंका वंध नहीं होता है।

आठवें अपूर्व करण गुण स्थानमें ५८ कर्म प्रकृतियोंका वंध होता है। सातवें गुणस्थानमें जो ५६ कर्म प्रकृति वतलाई है उनमें देवायु कर्म प्रकृतिको छोडकर शेष ५८ कर्म प्रकृतियोंका कर्म बंध होता है यह एक कर्म प्रकृति आठवेके प्रथम अंशमे कम होती हैं। परंतु दूसरे भागमें निद्रा और प्रचला इन दो कर्म प्रकृतियोंका वंध कम नहीं होजाता है इसलिये आठवें गुणस्थानमें ५६ प्रकृतियोंका कर्म वंध होता हैं। तीसरे भागमें-पंचेंद्रिय जाति (वैक्रियिक तेजस आहारक कार्मण शरीर) चार शरीर ६ समचतुरस्र संस्थान ७ वैक्रियिक शरीर आंगोपांग आहारक आंगोपांग ६ वर्ण १० गंध ११ रस १२ स्पर्श १३ देवगति प्रायोग्यानुपूर्व १४ अगुरुलघु १५ उपघात १६ परघात १७ उश्वास १८ प्रशस्त विहायोगति १९ त्रस २० वादर २१ पर्याप्ति २२ प्रत्येक शरीर २३ स्थिर २४ शुभ २५ सुभग २६ सुस्वर २७ आदेय २८ निर्माण २९ तीर्थंकरत्व ३० ये तीस प्रकृतिको छोडकर अवशेष २६ प्रकृतियोंका वंध होता हैं।

आठवे गुणस्थानमें वंध योग्य कर्म प्रकृति—

पंच ज्ञानावरण ५ चार दर्शनावरण (चक्षु अचक्षु अवधि केवल) ९ सातावेदनी १० चार संज्वलन कषाय १४ हास्य १५ रति १६ भय १७ जुगुप्सा १८ पुंवेद १९ यशकीर्त्ति २० ऊंच गोत्र २१ पंच अंतराय २६

इन २६ कर्म प्रकृतियोंका कर्मवंध होता है।

नवमें गुणस्थान (अनिवृत्ति करण) के प्रथम भागमें—

पांच ज्ञानावरण ५ चार दर्शनावरण ९ सातावेदनी १० चार संज्वलन १४ पुंवेद १५ यशः कीर्ति १६ ऊंचगोत्र १७ पंच अंतराय २२

इस प्रकार नवमें गुण स्थानके प्रथम भागमें २२ कर्म प्रकृति वंध होता है।

नवमें गुणस्थानके द्वितीय भागमें उक्त २२ कर्म प्रकृतियोंमेंसे पुंवेद नामकी प्रकृतिको छोडकर २१ प्रकृतियोंका कर्मवंध होता है।

तीसरे भागमें—संज्वलन क्रोध प्रकृतिको छोडकर २० प्रकृतिका कर्मवंध होता है।

चौथे भागमें—संज्वलन मान प्रकृतिको छोडकर १९ प्रकृतिका कर्मवंध होता है।

पांचवें भागमें—संज्वलन माया प्रकृतिको छोडकर १८ प्रकृतिका कर्मवंध होता है। (पांच ज्ञानावरण ५ चार दर्शनावरण ९ सातावेदनी १० सूक्ष्म लोभ ११ यशकीर्ति १२ ऊंच गोत्र १३ पांच अंतराय १८ इसप्रकार १९ कर्म प्रकृतिवंध होता है।

दशवें—सूक्ष्म सांपराय गुणस्थानमें-पांच ज्ञानावरण ५ चार दर्शनावरण ९ सातावेदनी १० यशःकीर्ति ११ ऊंच गोत्र १२ पांच अंतराय १७

इस प्रकार १७ कर्म प्रकृतियोंका कर्मवंध होता है।

इसके वाद उपशांत कषाय क्षीणकषाय सयोग केवली इन तीन गुण स्थानोंमें एक सातावेदनी कर्म प्रकृतिका वंध होता है।

अयोग केवली गुणस्थानमें किसी भी कर्म प्रकृतिका बंध नहीं होता है।

स्थिति बंध

कर्म पुद्गल वर्गणा जो आत्माके साथ संबंधित होती हैं वे कितने समय पर्यंत आत्माके साथ रहते हैं। उनकी स्थिति कितने समय पर्यंत रहती है। जैसे एक मनुष्यने आहार लिया आहारका रस वन कर आहारका भाग कितने समय पर्यंत रहेगा इस प्रकार की स्थितिको स्थितिबंध कहते हैं।

पांच ज्ञानावरण, नवविध दर्शनावरण, साताबेदनी पांच अंतराय, इन कर्मोंकी स्थिति बंध तीस कोडाकोडि सागरको है।

मिथ्यात्वकी (दर्शन मोहनी कर्म) उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोडा कोडि सागरकी है।

साताबेदनी स्त्री वेदनी मनुष्य गति प्रायोग्यानु पूर्व्यकी उत्कृष्ट स्थिति १५ कोडाकोडि सागरकी है।

अनंतानुबंध क्रोधमान माया लोभ, अप्रत्याख्यान—प्रत्याख्यान और संज्वलन क्रोध मान माया लोभ इन सोलह कषायकी उत्कृष्ट स्थिति ४० कोटाकोडि सागरकी है।

पुंवेद, हास्य, देवगति, समचतुरस्र संस्थान, वज्रवृषभनाराच संहनन, देवगति प्रायोग्यानु पूर्व्य, प्रशस्त विहायोगति, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्त्ति अयशः कीर्ति ऊंचगोत्र इन कर्मोंकी स्थिति १० कोडाकोडि सागरकी है।

नपुंसक वेद, रति, अरति, शोक, भयजुगुप्सा, नरकगति, तिर्य-

गति, एकेन्द्रिय जाति पचेन्द्रिय जाति औदारिक वैक्रियिक तैजस कार्मण शरीर हुंडक संस्थान औदारिक वैक्रियिक आंगोपांग असंप्राप्तासृपाटिका संहनन वर्ण गंध रस स्पर्श नरकगति प्रायोग्यानुपूर्व तिर्यग्गति प्रायोग्यानुपूर्व्व अगुरुलघु उपघात परघात उच्छ्वास-आतप उद्योत अप्रशस्त विहायोगति त्रस स्थावर बादर पर्याप्ति प्रत्येक शरीर अस्थिर अशुभ दुर्भग दुस्वर अनादेय अयशःकीर्ति निर्माण नीच गोत्र इन कर्मोंकी स्थिति २० कोडाकोड़ि सागर-की है।

नरक देव पर्यायकी आयु कर्मकी स्थिति ३३ सागरकी हैं।

मनुष्य तिर्यंचकी आयु कर्मकी स्थिति तीन पल्यकी है।

(द्वीन्द्रिय तीन इन्द्रिय चार इन्द्रिय जाति) तीन जाति वामन संस्थान कीलक संहनन सूक्ष्म, अपर्याप्ति साधारण इन प्रकृतियोंकी उत्कृष्ट स्थिति १८ कोडाकोडि सागरकी है।

स्वाति संस्थान, नाराच संहनन इन दो कर्म प्रकृतिकी उत्कृष्ट स्थिति १४ कोड़ाकोडि सागर की है।

कुब्जक संस्थान अर्द्ध नाराच संहननकी उत्कृष्ट स्थिति १६ कोडाकोडि सागरकी है।

आहारक शरीर आहारक आंगोपांग तीर्थंकर इन कर्म प्रकृति-योंकी उत्कृष्ट स्थिति अंत कोडाकोडि प्रमाण है।

निग्रोध संहनन वज्र नाराच संहननकी उत्कृष्ट स्थिति १२ कोडाकोडि सागर प्रमाण है।

नोट—इन कर्म प्रकृतियोंकी उत्कृष्टस्थिति जितने कोडाकोडि

ो हैं उतने ही सैकड़ा वर्षोंकी आवाधा स्थिति होती है या आवाधा।

जिन कर्मोंकी उत्कृष्ट स्थिति अंत कोड़ाकोड़ि सागरकी है उनका आवाधाकाल अंतर्मुहूर्त है।

यह कर्म स्थिति संज्ञी पचेन्द्रिय जीवोंकी समझना।

भावार्थ—जैसे स्वाति संस्थान या नाराच संहननकी १४ कोड़ाकोड़ि सागरकी उत्कृष्ट स्थिति हैं तो इनका आवाधाकाल १४ सौ वर्ष होगा। या कुब्जक संस्थानकी उत्कृष्ट स्थिति १६ कोड़ाकोड़ि सागरकी हैं तो इस कर्म प्रकृतिका आवाधाकाल सौलह सौ वर्ष होगा। एक कोडाकोड़ि सागरकी आयुका आवाधाकाल सौ वर्ष होगा। आवाधाकाल विना कर्मकी स्थिति नहीं होती है जिन कर्मोंकी स्थिति अंतः कोडाकोड़ि सागरकी है उन कर्मोंका आवाधाकाल अंतर्मुहूर्त है। वंधकी अपेक्षासे सर्वत्र यह क्रम होता है।

एकन्द्रिय जीवकी तो मिथ्यात्व (दर्शनमोहनीके कर्मकी स्थिति एक सागरकी है वंधकी अपेक्षा यह कर्म स्थिति और आवाधाकालका वर्णन है।

कषायोंकी स्थिति (एक इन्द्रिय जीवकी अपेक्षासे) एक सागरके सातभाग करना चाहिये उसमेंसे चार भाग $\frac{4}{7}$ भागकी आयु है। एक सागरके $\frac{4}{7}$ भाग हैं। ज्ञानावरण दर्शनावरण अंतराय सातावेदनी कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति एक सागरके सातभागमेंसे तीन भागकी आयु है। सागरके $\frac{3}{7}$ भाग स्थिति हैं। नाम गोत्र और

नो कषायका उत्कृष्ट स्थिति एक सागरके सात भागमेंसे २ भाग (७ सागर) सागर स्थिति है।

उक्त कर्मोंको उत्कृष्ट स्थिति एकेन्द्रिय जीवोंकी अपेक्षासे है। दो इन्द्रिय तीन इन्द्रिय चार इन्द्रिय जीवोंकी अपेक्षासे कर्मोंकी स्थिति नीचे लिखे प्रमाण है।

द्वीन्द्रिय जीवोंके दर्शन मोहनीय कर्म (मिथ्यात्व) की स्थिति पचास सागरके समान है। चार इन्द्रिय जीवोंके दर्शन मोहनी (मिथ्यात्व कर्म) कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति सौ सागरके समान है।

असेनी पंचेन्द्रिय जीवोंके मिथ्यात्वकी उत्कृष्ट स्थिति एक हजार सागरके समान है।

दो इन्द्रिय आदि असेनी पंचेन्द्रिय जीवोंके अन्य कर्मोंकी स्थिति आगमसे जानना।

पांच ज्ञानावरण चक्षु अचक्षु अवधि और केवल दर्शनावरण संज्वलन लोभ पांच अंतराय इन कर्मोंकी स्थिति (जघन्य) अंतर्मुहूर्त है।

साता वेदनी कर्मकी जघन्य स्थिति १२ मुहूर्त की है।

यशकीर्ति ऊंचगोत्रकी जघन्य स्थिति ८ मुहूर्तकी है, क्रोध संज्वलनकी जघन्य (स्थिति) दो मास है संज्वलन मायाकी स्थिति आधामास है (१५ दिवस) संज्वलन मानकी स्थिति एक मास है।

पुरुष वेदकी जघन्य स्थिति आठ वर्ष है।

निद्रा निद्रा निद्रा, प्रचला प्रचला प्रचला, स्त्यान गृद्धि वेदनी कर्मको जघन्य स्थिति सागरके सात भागमेंसे तीन भाग है है सागरके भाग प्रमाण है।

तथा पल्पके संख्यात भागकम, भावार्थ-एक सागरके सात भागमेंसे तीन भाग, परंतु पल्योपमके असंख्यात भाग कम चाहिये।

ि के एक सागरके सात सात भाग किये जाय उसमें भी पल्योपमके भाग हीन स्थिति होती है।

अनन्तानुबन्धो अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यानकी स्थिति सागरके सात भागमेंसे चार भाग स्थिति हैं। परन्तु वह भो पल्योपम संख्यात भाग हीन है। एक सागरके हैं पल्योपय वर्ष हीन।

आठ नो कषायोंकी स्थिति एक सागरके सात भागोंमें भाग परन्तु पल्योपमके सख्यात भाग हीन।

नरककी जघन्य आयु दश हजार वर्ष है।

देवोंकी जघन्य आयु दश हजार वर्ष है।

तिर्यंचोकी जघन्य आयु अंतमुहूर्तको है।

मनुष्योंकी जघन्य आयु अंतमुहूर्तकी है।

नरक गति देव गति वैक्रियिक आंगोपांग नरकगति प्रायोग्यानु पूर्व्य देवगति प्रायोग्यानुपूर्व्यकी जघन्य स्थिति एक सागरके सात भागमें से दो भाग पल्योपम संख्यात भाग हीन संख्यात भाग हीन।

आहारक आगोपांग तीर्थंकर कर्म प्रकृतिकी स्थिति सागरोपम कोडाकोडि है।

इससे अवशेष नामकर्मकी प्रकृतियोंकी जघन्य स्थिति सागरोपमके सात भागमेंसे दो भाग पल्योपम संख्यात भाग हीन।

नोट—कर्मोंकी जघन्य स्थितिमें सर्वत्र आवाधा काल भी अंतमुहूर्त है। आवाधाके विना स्थिति बंध नहीं होता है।

जघन्य स्थिति बंध सामान्य संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवोंकी सम- झनी चाहिये। दो इन्द्रिय तीन इन्द्रिय चार इन्द्रिय और असैनी असैनी पचेंद्रिय जीवोंकी जघन्य स्थिति आगमसे जानना तो भी सामान्य अपेक्षासे जघन्य ही नहीं पर उत्कृष्ट स्थिति बंध होता हैं। पल्यके संख्यात भाग हीन भी स्थिति बन्ध होता है।

अनुभाग बंध।

जिस प्रकार मेघका पानी इक्षुमें रहकर मीठा पन उत्पन्न कर देता है जिसके गुण वैद्यकमें भिन्न भिन्न रूपसे बतलाये हैं। इसी प्रकार आहार, रस, उपरस, धातु उपधातु आदिको उत्पन्न करता है जिसका भिन्न भिन्न फल स्वयं अनुभवमें आता है। पदार्थोंमें जो जो गुण होते हैं उन गुणोंके स्वरूपका अनुभवमें आना आस्वाद में आना वही उसका फल है।

मदिरा पीनेका फल मद उत्पन्न होना है। विष भक्षणका

फल मरण प्राप्त होना है। इसीप्रकार जितने कर्म हैं उनका फल भिन्न भिन्न प्रकार होता है।

जिस प्रकार गो दूधका फल शांति और पौष्टिक है पाचक है स्वादु है परन्तु आकके दूधका फल गर्म उन्मादक है। और प्राणों का व्यत्यय कराने वाला रेचक है।

जिस प्रकार मीठा पानी संतापकारक और दाहको दूर करने वाला है उसीप्रकार खारा पानी दाहकारक और असंतोषको उत्पन्न करने वाला है।

इसी प्रकार कर्मोंके मूल भेदोंका फल भिन्न भिन्न प्रकारसे होता है। ज्ञानावरणका फल ज्ञानका आवरण है दर्शनावरणका फल दर्शनका आवरण है वेदनाका फल सुख दुखका प्रदान करना है। मोहनी (दर्शन मोहनी) का फल विपरीत अनुभव करना है या आत्माके समस्त गुणोंमें विपरीतता प्राप्त कराना है। कषायोंका फल चारित्रका घात करना है अथवा क्रोधादिक दुर्भावोंका प्रकट होना है नरक आयुका फल नरकमें स्थिति करना है। देवआयुका फल देव पर्यायका स्थिति पूरी करना है। नाम कर्मका फल भिन्न भिन्न प्रकारसे नो कर्म (शरीर) की रचना होना है गोत्र कर्मका फल नीच ऊंच गोत्रमें जन्म लेना है। अन्तरायका फल दान लाभ आदिकी अप्राप्ति है।

इस प्रकार मूल प्रकृतियोंका अनुभाग (फल) सामान्य रूपसे है विशेष आगमसे जानना चाहिये।

अनुभाग बंधका कुछ विशेष खुलासा।

ज्ञानावरणादि कर्मोंका जो रस अथवा जो अनुभव अथवा विपाक जनित फल, अथवा ज्ञानावरणादि कर्म प्रकृतियोंका अपने स्वभावानुरूप कार्य अथवा जिसप्रकार आमके वीजका आमफल और नीवके बीजका नीव फल, इमलीके बीजका इमलीफल होना-उसके स्वभाव गुण-व कार्य प्रकट होना सो अनुभागबन्ध है।

अनुभागवंध दो प्रकार है। एक शुभ दूसरा अशुभ (क्योंकि कर्मोंके कारण भी शुभ और अशुभ रूप दो प्रकार है। जिसको पुण्य और पाप कहते हैं। अथवा हिंसादि प्रवृत्ति रूप या हिंसादि निवृति रुप अथवा अशुभ चितवन आर्त रौद्र-ध्यान रूप या दश धर्म चितवनरूप) शुभ कर्मोंका फल शुभ होता है। लोकमें इसको पुण्य कर्म कहते हैं। अशुभ कर्मोंका फल अशुभ होता है जिसको पाप कहते हैं।

शुभ कर्मोंका फल (पुण्य) सुख-रूप अनुभवमें आता है अशुभ कर्मोंका फल दुख रूप अनुभवमें आता है।

परिणामोंमें जैसी कषायोंका विशेष या कम (मंदोदय) उदय होता है कर्मोंके रसमें-स्थिति और अनुभागमें विशेपता जैसे २ अधिक होती हैं गोके दूधसे भेड़के दूधमें चिक्कनता अधिक है। इसी प्रकार कोई आममें खट्टा रस कम और विकारी रस होता है तो कोई आमका रस मीठा वहुत और गुणकारी होता है यह जीवोंकि परिणामोंकी शक्ति और वाह्य निमित्तका कारण है।

आत्माके भावोंके निमित्तसे और बाह्य कारणोंके निमित्तसे पुद्गल परमाणुओंमें जिस प्रकार कर्म रूप होनेकी शक्ति होती है उसी प्रकार आत्माके कषाय जनित परिणामों द्वारा व द्रव्य क्षेत्र कालके तीव्रतर निमित्तों द्वारा उन कर्म परमाणुओंमें (कर्म प्रकृतियोंमें) ऐसी शक्ति उत्पन्न होती है जिससे वे जीवोंको एकदम ज्ञानका आवरण कर देती है (अक्षरके अनन्त भाग पर्यंत) या न्यूनाधिक पनासे आवरण कर देती है जिसका फल (अनुभाग) ज्ञानका नहीं होना है।

अनुभागमें रस शक्तिकी विशेषतासे विशेष फल दान शक्ति होती है। जैसे नीव कम कटुक है नीवसे चिरायता कुछ अधिक कटुक है चिरायतासे इन्द्रायणकी जड़ अधिक कटुक है। इन्द्रायणसे कुटको अधिक कटुक है। इसीप्रकार कर्मोंमें रस भाग शक्तिकी जैसे जैसे विशेषता होगी वैसे २ हो फल दान शक्तिमें विशेषता होगी।

तीव्र तीव्रतर-तीव्रतम आदि भेदोंसे अनेक प्रकारका अनुभाग होगा। इसी प्रकार जैसे २ भावोंकी परणतिसे कर्मबन्ध किया है वैसा ही अनुभाग होगा। जघन्य मध्यम उत्कृष्ट परिणामोंके भेद अनन्त हैं।

कहींपर आत्माके शुभ परिणामोंकी विशेष प्रकर्षता होनेसे शुभ प्रकृतियोंका ही प्रकर्ष अनुभाग होता है और आत्माके अशुभ परिणामोंकी प्रकर्षतासे केवल अशुभ प्रकृतियोंका ही प्रकर्ष अनुभाग होता है। उभयरूप परिणाम होनेसे मिश्र अनुभाग होता है परिणा-

मोंकी मंदतासे मंद अनुभाग होता है। कभी २ परिणामोंमें विशेष विशुद्धि होनेसे शुभ प्रकृति ही अनुभागमें मुख्यतासे आती है इतर प्रकृतियोंका अनुभाग नहीं होता है। इसी प्रकार परिणामोंकी विशेष मलिनतासे केवल अशुभ प्रकृतिका अनुभाग होता है, कभी शुभका विशेष और अशुभका कम, अशुभका विशेष तो शुभका कम अनुभाग होता है।

अनुभाग दो प्रकार होता है स्वप्रत्यय (स्वमुख) और पर प्रत्यय (परमुख) मूल प्रकृतियोंकी सामान्यदृष्टिसे विचार किया जाय तो सर्वत्र स्वमुख ही अनुभाग होगा। और उत्तर प्रकृतियों का परमुख अनुभाग होगा। परंतु यह नियम सर्वत्र ही कार्यकारी नहीं है। आयुकर्म और चारित्र मोहनीकर्मका अनुभाग नियमसे स्वप्रत्यय (स्वमुख) ही होता है। क्योंकि नरकायुका अनुभाग कभी भी किसी अवस्थामें तिर्यचआयुरूप वा मनुष्य आयुरूप नहीं होता है। इसीप्रकार दर्शन मोहनीका अनुभाग चारित्र मोहनीरूप नहीं होता है और चारित्रमोहनीका अनुभाग दर्शन मोहनीरूप नहीं होता है।

इसीप्रकार देशघातिप्रकृति और सर्वघाति प्रकृतियोंकी अपेक्षा से अनुभाग दोप्रकार होता है। देशघाती आत्माके गुणोंमें सर्वांश रूपसे घात नहीं करती है उसमें ऐसा अनुभाग नहीं होता है जिससे आत्माके सर्वांश गुणोंका घात हो और जिसका अनुभाग आत्माके सर्वांशरूपसे गुणोंका घात करनेवाला हो वह सर्वघाति प्रकृति है।

सर्वघाती प्रकृति केवलज्ञानावरण केवलदर्शनावरण निद्रा निद्रानिद्रा प्रचला प्रचलाप्रचला स्त्यानगृद्धि मिथ्यात्व (अनन्तानुबन्धी अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यानानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ) कषाय १२ सब २०

ये बीस प्रकृति आत्माके समस्तगुणोंका घात करती है जिस प्रकार दावाग्नि समस्त वनको प्रज्वलित कर देती है उसीप्रकार आत्माके समस्त गुणोंको आवृत्त करनेवाली उक्त बीस प्रकृति है।

देशघाती प्रकृति——मति–श्रुत–अवधि–मनःपर्यय ज्ञानावरण ४ चक्षु–अचक्षु–अवधि दर्शनावरण ७ दान–लाभ भोग उपभोग—वीर्य पांच अन्तराय १२ संज्वलन क्रोध मान माया लोभ १६ नव नोकषाय (हास्य रति अरति शोक भय जुगुप्सा पुंवेद स्त्रीवेद नपुंसकवेद) २५ इन प्रकृतियोंका अनुभाग देशघाती है।

परन्तु जिससमय उक्त २५ प्रकृतियोंका उत्कृष्ट अनुभागबंध होता है। तब कथञ्चित इनका परिणमन सर्वघातीके समान ही होता है। इसलिये उपर्युक्त प्रकृतियोंको देशघाती वा सर्वघाती दोनों प्रकार भी कह सकते हैं। अनुभागके रस विशेषताकी अपेक्षा इनमें देशघातित्व वा सर्व घातित्व दोनों प्रकार ही होसकते हैं॥ अथवा जघन्य या किंचिन्मध्यम अनुभागको देशघाति समझना चाहिये।

अथवा सर्वघाति प्रकृतियोंके साहचर्यके विना जिन प्रकृति-

योंमें कार्य करने आत्माके गुणोंको घात करनेकी सामथ्य नहीं रहे उनको अघाती प्रकृति कहते हैं। इन अघाति कर्म प्रकृतियोंको पुण्य पाप रूप दोनों प्रकारसे कहते हैं परन्तु घाती प्रकृतियोंको पापरूप ही कहते हैं।

अशुभ प्रकृतियोंके अनुभागके चार स्थान हैं नीव[1]—कांजीर[2] विष[3]—कालकूट[4]। भावार्थ-जिसप्रकार नींवसे कांजीर विशेष विकारी होता है कांजीरसे विष विशेष विकारी होता है और विषसे कालकूट [हालाहल] एकदम विकारी है इसीप्रकार अशुभ प्रकृतियोंके अनुभाग भी चार प्रकार होते है कोई अनुभाग तो नींवके समान कम विकारी होता है पुण्य पुरुषों ो ऐसा अनुभाग विशेष दुखका प्रदान करनेवाला नहीं होता हैं। कांजीरके समान अशुभ प्रकृतियोंका अनुभाग मनुष्यादि पर्यायमें कुछ विशेष दुःख प्रदान करता है, तो भी आत्माके स्वरूप चितवनमें विशेष हानि नहीं पहुंचा सकता।

विष और हालाहलके समान अशुभ प्रकृतियां निगोद आदि अशुभ पर्यायमें अपना ऐसा अनुभाग कराती हैं कि जिससे आत्माके सर्वगुणोंका घात होजाता है।

इसी प्रकार शुभ प्रकृतियोंका अनुभाग स्थान चार प्रकार होता है। गुड खांड शर्करा अमृत, जैसे गुड खांड और शर्करा और अमृतमें उत्तरोत्तर स्वाद और सुख है उसीप्रकार शुभ प्रकृतियोंमें उत्तरोत्तर चार भेद ऐसे होते हैं जो विशेष विशेष सुख पैदा करते हैं।

मोंको संभाल न कीजाय तो सर्वघातिप्रकृतियोंका कर्मबंध सतत होता रहेगा। आत्मा संसारसे मुक्त कभी नहीं होगा।

जो सुख चाहते हो, जो मुक्त होना चाहते हो, जो कर्मोंका अनुभाग न भोगकर कर्मोंकी अविपाक निर्जरा करना चाहते हो तो परिणामोंकी संभाल रखो। रागद्वेषसे परिणामोंको बचाओ मलिन भावोंकी परिणतिसे रक्षा करो मिथ्यात्व परिणतिसे दूर रहो सदैव जप तप ध्यान संयम गुप्ति धर्म चारित्र आदिके द्वारा अपने परिणामोंको सरल आर्जवरूप मार्दवमय सत्यमय निर्लोभमय बनाओ। बस यही अनुभाग बंध जाननेका फल है।

चाहे पुण्य रूप अनुभाग हो चाहे पाप रूप हो परन्तु कर्मोंका अनुभाग किसी प्रकार भी उत्तम नहीं है।

प्रदेशबंध

प्रदेश बंधका स्वरूप खास विचार करने योग्य है।

लोकाकाशमें सर्वत्र कार्मण वर्गणायें खचाखच भरी हुई हैं। आकाशका ऐसा कोई प्रदेश नहीं है कि जिसमें कार्मण वर्गणाका अस्तित्व न हो। वे पुद्गल परमाणु अनंतानंत हैं। अत्यंत सूक्ष्म हैं अतीन्द्रिय हैं।

उन परमाणुओंको आत्मा समय समयमें ग्रहण करता है जिस समय आत्माके साथ उनका संबंध हो जाता है तब उनमें ज्ञानावरणादि कर्म प्रकृतिके योग्य परिणमन होनेकी शक्ति उत्पन्न हो जाती है।

ज्ञानावरणादि कर्म प्रकृतियोंके योग्य सूक्ष्म (अतीन्द्रिय) अनंत पुद्गल परमाणुको आत्मा अपने मन वचन कायके व्यापारसे अपने आत्माके समस्त प्रदेशोंके साथ चारों तरफ (ऊर्ध्व अधः तिर्यग रूपसे) में एक क्षेत्रावगाही संश्लेष रूप संबंध करता है उसको प्रदेशबंध कहते हैं।

प्रदेशबंधमें पुद्गल परमाणुके प्रदेशोंकी गणना होती है एक साथ एक आत्मामें मन वचन कायके पृथक् पृथक् व्यापार द्वारा जितने अनंत या अनन्तानत पुद्गल परमाणु आत्माके समस्त प्रदेशोंके साथ चारों एक क्षेत्रावगाही होते हैं सो प्रदेश बंध है।

कर्मबंध चाहे मन योगसे हो, चाहे वचन योगसे हो, चाहे काय योगसे हो, परन्तु एक साथ पुद्गल परमाणु अनंत संख्यामें ग्रहण होते हैं। समय समयमें पुद्गल परमाणुका पिंड अनंत संख्यामें ग्रहण होते हैं। उसको प्रदेशबंध कहते हैं। जितने प्रदेशों (परमाणुओं) की संख्याको लेकर बंध होता है। इसीका नाम प्रदेशबंध है।

कमसे कम उन पुद्गल परमाणुओंकी संख्या (जो समय प्रबद्ध होकर आत्माके साथ संबंध होते हैं) अनंत रूप है। सिद्ध राशिसे अनंत भागमय है। अनंतके अनंत भेद हैं सो कम (जघन्य) मध्यम-उत्कृष्ट रूपसे भी विचार किया जाय तो भी समस्त संख्या अनंत रूप ही होगी।

पीछेसे उसमें कर्म प्रकृतियोंके योग्य विभाग होता है इसलिये प्रदेशबंधको सामान्य यही अर्थ होता है कि उन पुद्गल परमाणुओंकी संख्याका अवधारण कितना है।

बंधके दशभेद हैं———

बंध १ उत्कर्षण २ संक्रम ३ अपकर्षण ४ उदीरणा ५ सत्व ६ उदय ७ उपशम ८ निधत्ति ९ निःकाचना १० ।

कर्म और आत्म प्रदेशोंके साथ परस्पर दूध पानीके एकमेक (क्षेत्रावगाही) संश्लेष रूप संबंध होना सो बंध है ।

जिन कर्मोंकेबंध समयमें जितनी स्थिति हुई है उससे अधिक होना सो उत्कर्षण है । सम्यक्त व मिथ्यात्वके प्रभावसे आयुका उत्कर्षण होता है । सम्यग्दृष्टी जीव अपने भावोंकी विशुद्धतासे पुण्य प्रकृति तथा आयुकर्मकी स्थितिका उत्कर्षण करता है इसी प्रकार मिथ्यादृष्टी जीव अपने भावोंकी मलिनतासे अशुभ प्रकृति तथा आयुकर्मकी स्थितको बढ़ाता है । इस प्रकार स्थितिका बढ़ाना सो उत्कर्षण बंध है ।

आयुका बढ़ना बध्यमान आयुमें ही नियमसे होता है भुज्यमानमें नहीं ।

संक्रमणबंध-सातिशय पुण्यके योगसे जिस समय पाप प्रकृतियोंका उदय पलटकर पुन्य रूप अनुभागमे आता है उस को संक्रमण कहते है । इसी प्रकार पापके तीव्र योगसे पुण्य प्रकृतियोंका उदय पाप रूप पलट कर होता है उसको संक्रमण कहते हैं । पर प्रकृति रूप परिणमनको संक्रमण कहते हैं ।

अपकर्षण-सातिशय पुण्य पापके योगसे (सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शनके प्रभावसे) जिस समय आयुकर्मादि, प्रकृतियोंकी स्थितिमें ह्रास होता है उसको अपकर्षण कहते है।

यह भी बध्यमान आयुमें होता है भुज्यमान आयुमें नहीं। श्रेणिक महाराजकी आयुबंध तेतीस सागरसे केवल ८४ हजार वर्षका ही रह गया।

इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीवोंकी पुण्य प्रकृतियोंकी स्थितिका घटना सो अपकर्षण है।

उदीरणा—जिस कर्मका अनुभाग उदय कालके प्रथम ही हो जावे। कर्मका फल उदयकालके प्रथमही उदयमें आ जावे या उदय कालके प्रथम ही उदय रूप ले आना सो उदीरणा है।

सत्व—कर्मोंका अस्तित्व आवाधा काल पर्यंत बराबर रहना सो सत्व कहलाता है। कर्मके अस्तित्वको सत्व कहते हैं।

उदय—कर्म अपना फल कालानुसार प्रदान करे अनुभाग रूपमें प्रवर्तित हो जावे उसको उदय कहते हैं।

उपशम—सत्तामें रहकर कर्म उदय काल होनेपर भी अपना फल नहीं प्रदान करे उसको उपशम कहते हैं।

निधत्ति—जिस कर्मकी उदीरणा हो सको हो परन्तु संक्रमण न हो सके उसको निधत्ति कहते हैं।

निःकाचन—जिस कर्मकी उदीरणा व संक्रमण ये दोनों नहीं हो सके कर्म अपना अनुभाग पूर्णरूपसे प्रदान करे उसको निःकाचन बंध कहते हैं।

"कर्मविधि टारी न टरे,, कर्म अपना फल दियेविना नहीं रहते हैं। पुण्य पुरुषोंको भी अपना कार्य बतला देते हैं जिसको भवितव्यता कहते हैं। वह निःकाचन नामका कर्मबंध है। यों तो

समस्त कर्मोंका फल प्रायः संसारी जीव भोगते ही हैं परंतु कितने ही कर्मोंको संक्रमण भी करते हैं। अशुभसे शुभ कर सक्ते हैं। दान पूजा जप तप आदि पुण्य कार्योंसे अशुभकर्मके रसको बदलकर शुभरूप करसक्ते हैं। जो कर्म अशुभ उदयरूप होरहा है उसको पूजा दानादि शुभकार्योंके द्वारा शुभरूप परिणमन करा सक्ते हैं परंतु जिनको निःकाचन बंध हुआ है वह कर्म अपना रस (फल) दिये विना सर्वथा नहीं रहता है। चाहे पुण्य करो या और कुछ भी महान कार्य (उत्तम जप तप) करो उसका फल तो भोगनाही पडेगा।

एक निःकाचन कर्मबंधको छोडकर इतर (अन्य) कर्मबंधके रस (फल-अनुभाग) का परिणमन शुभाशुभ रूप हो सकता है।

कितने ही भाई यह प्रश्न करते रहते हैं कि जिनपूजन करने वाले हमने बहुतसे दरिद्र देखे फिर पूजनका फल क्या? दान देनेका फल क्या?

उन भाइयोंको विचार करना चाहिये कि कोई भी कर्म (जिन पूजा दान आदि कर्म) तत्काल ही उदय रूप नहीं आता है; आबाधा कालके पश्चात् ही उदयमें आता है इससे तत्काल पूजादि कार्योंका फल सबको नहीं दीखता है। दूसरे भावोंकी सातिशय विशुद्धता हो तो पूजादि शुभ कार्योंका फल तत्काल भी दृष्टि गोचर हो परंतु जिनको प्रथम निःकाचन नामका कर्मबंधका उदय है वह तो "टारेना टरे" 'कर्म बिधि मिटेना मेटेसे' उनको

तत्काल पूजादि शुभ कार्योंका फल नहीं प्राप्त होता है कालांतर में अवश्य ही पुण्य कर्मका फल नियमसे प्राप्त होता है।

कभी कभी भावोंकी विशुद्धतासे कितने ही जीवोंको उनके अशुभ कर्मोंका परिणमन पूजादि शुभकार्योंके फलसे तत्काल ही शुभरूप हो गया है। सर्पकी फूलमाला होगई, दरिद्र लक्ष्मीवान् होगये, रोगी कंचन काया बन गये। निःपुत्रसंतति वाले बन गये। इसप्रकार पूजादि शुभ कार्योंका सातिशय पुण्य तत्काल ही फल प्रद होकर अनन्त जीवोंके बड़े बड़े भारी संकटोंको दूरकर उन्हें परम सुखी बना देता है।

इसलिये समस्त भव्यजीवोंको कर्मबंधका स्वरूप जानकर यह विचार करना चाहिये कि किसी भी प्रकारसे पुण्य संपादन करें किसी भी समय जिनपूजन-जिनगुण स्मरण-जिनस्वरूपचिन्तवन जिन स्तुतिगायन आदिसे पुण्यकी वृद्धि करें।

पुण्य अवश्य ही अपना फल सुखरूप बतलायेगा। दुःखोंसे बचायेगा और संकटोंको दूर करेगा परन्तु पुण्य अपना फल दिये बिना नहीं रहेगा।

इसीप्रकार पापकार्योंके करते समय विचार करना चाहिये कि पाप कार्योंका फल (जीव हिंसा चोरी परस्त्री सेवन अन्याय आदि पापकार्योंका फल) अवश्य ही मिलेगा। अत्यन्त घोर-पाप कर्मके फलसे अपने पूर्व भवके पुण्य कर्मोंका फल भी अशुभ परिणमन हो जाता है और वर्तमान पापका फल भी तत्काल ही प्राप्त हो जाता है।

मनुष्यवध—मुनिहत्या- राजवध प्रजा पोडन और घोर अत्या-चार का फल तत्काल ही उदय रूपमें आता है जिससे लक्ष्मीका विनाश होजाना है पुत्र स्त्री भाई कुटंब परिवारका वियोग होजाता है, समस्त वैरी बन जाते हैं, रोग शोक आधिव्याधि और उपाधि आ धमकती है फिर चारो तरफसे दुःखही दुःख दृष्टिगोचर होता है। इसलिये पापकार्योंके करते समय विचार करो परोपकार करनेके लिये भी जीव वध या अन्यान्य सेवन मत करो जैसे कि राष्ट्रोन्नतिको परोपकार बतलाकर क्रान्तिकारी दुर्नीतिके द्वारा घोर पाप करते हैं। और अपनेको नेता (सन्मार्ग प्रकाशक] बननेकी डींग मारकर जगतको ठगते हैं। दूसरोंके धन संपत्ति पर ताधिन्ना ताधिन्ना करते हैं मौज मजा करते हैं। सैर सपाटे उड़ाते हैं और चाहे जो खाते पीते हैं।

मनुष्य भवप्राप्तकरनेका फल विचार करना चाहिये कुशिक्षाके दुर्ज्ञानमे मनुष्यभव प्राप्त करनेका सौभाग्य व्यर्थ ही नहीं खो देना चाहिये कुछ पुण्य संपादन कर अपना भला करना चाहिये।

प्रदेश बंध मन वचन कायके व्यापारसे (क्रियासे) होता है इस लिये मन वचन कायके द्वारा ऐसे कार्य करना चाहिये जिससे विशेष पुण्य बंध हो, और पापकर्मोंका अनुभाग शुभरूप परिणमन हो। वे पुण्य कार्यमें हैं।

कायके पुण्यकार्य—

दृढ आसनसे सामायिक करना, कायोत्सर्ग धारण करना निर्विकार गुरुसेवा करना भगवानका प्रक्षाल करना तीर्थयात्रा

(पैरोंसे) करना, दानदेना, दानके लिये रसोई बनाना, मन्दिरजीको साफ करना, गुरुजनोंकी वैयावृत्य करना, गुरुजनोंको नमस्कार करना, हाथजोडकर विनयसे वंदना करना, ढोक देना, ईर्यापथ पूर्वक चलना, जीवोंकी हिंसा अपने शरीरके व्यापारसे न हो इस प्रकार शरीरकी प्रवृत्ति करना, शरीरसे रोगीकी सेवाकरना भगवानकी पूजन अत्यंत भक्तिके साथ नृत्य पूर्वक करना इत्यादि पुण्यकार्यका कायके द्वारा संपादन करना चाहिये।

वचनके द्वारा हित मित परको सुख करनेवाले आगमके अनुकूल वचन बोलना, णमोकार मंत्र का जाप देना, भगवानकी स्तुतिकरना, शास्त्रोंका पठन करना, जीवोंको दयाका उपदेश देना शास्त्रार्थ कर जिनमार्गकी जबरदस्त प्रभावना करना, आगमके वचनोंका प्रचारकरना, गुरुजनोंके (आचार्य उपाध्याय साधु ऐलक क्षुल्लक आदि) समक्ष विनीत भावसे आगमके रहस्यको पूछना, शास्त्रोंका पढाना अर्थ बतलाना पाठ करना, तत्वार्थसूत्र, सहस्त्र नाम, भक्तामरआदि पाठोंका बोलना) सो सब वचनके शुभकार्य हैं।

मनके शुभकार्य—तत्वोंका श्रद्धान करना, प्रभुका ध्यान धरना, भगवानके गुणोंका चिंतवन करना, संसार देह भोगोंसे वैराग्य भावनाओंका चिंतवन करना आगमकी आज्ञाका सर्वत्र प्रचार हो ऐसी भावना करना, जिनागमकी पवित्रता सर्वकालमें सर्वत्र अविछिन्न बना रहे ऐसा विचार करना, समस्त जीव जिनराजकी आज्ञाको शिरोधार्य कर सब पापोंसे बचें ऐसा विचार करना, जिन धर्मपर परके मिथ्यात्वी व अन्य मतोंके द्वारा जो मिथ्या अवर्ण

वाद होरहे हैं उनका मैं किसप्रकार नाश करूं ऐसा विचार करना, मुनिजनोंके पवित्र उद्योगमें जो मनुष्य रोडा लगाकर मुनिजनोंकी निंदाकर अथवा अवर्णवाद लगाकर जो पवित्र मार्गका घात कर रहा है उसको मैं किसप्रकार निवारणकर सच्ची प्रभावना करूं ऐसा विचार करना स्त्रियोंका पवित्र शील अज्ञानी लोग कुशिक्षा के प्रभावसे भ्रष्ट करते हैं मैं उनके शीलकी रक्षा किसप्रकार करूं ऐसा विचार करना सो सब मनके द्वारा पुण्यकर्म है।

पापकर्म—शरीरके द्वारा जीवोंका वध करना, भगवानकी मूर्तिका तोडना, शास्त्रोंका अर्थ विपरीत लिखना, मिथ्या लेख लिखना, स्वच्छंद होकर अनर्गल चलना, मद्य मांस भक्षण करना, अन्यायके कार्य करना, व्यभिचार सेवन करना, आदि शरीरके पापकर्म हैं।

झूठ बोलना, आगमके विरुद्ध बोलना, मिथ्या शास्त्रोंका उपदेश देना, जीववध युद्ध लडाई और कलहका उपदेश देना, विधवा-विवाहका उपदेश देना, जातिपांतिके लोपका भाषण करना, मुनियोंकी निंदा करना, जिनधर्ममें अवर्णवाद लगाना, धर्मात्मा भाइयोंकी निंदा करना और उनको कष्ट देनेकी संभावणा देना।

जिनागममें कलंक प्राप्त हो जिनागमकी पवित्रता नष्ट हो जावे ऐसा उपदेश देना, राष्ट्रकथा करना, स्त्री कथा करना, अन्यमत प्रशंसन करना, जिनागमको असत्य ठहरानेका मिथ्या वचन बोलना अज्ञानी छद्मस्थ लोगोंकी तत्व रचनाको सत्य आदि समस्त पाप कार्य वचन द्वारा होते हैं।

परस्त्री हरण करनेका विचार करना, स्त्रियोंको व्यभिचारी बनानेका विचार करना, मुनियोंको उपसर्ग या कष्ट देनेका विचार करना, धर्मकी पवित्रता नष्ट करनेका विचार करना, जीवोंको दुख देनेका विचार करना दूसरोंको लूटने मारने और वध करनेका विचार करना, आर्तरौद्र ध्यानके द्वारा भले बुरे विचार करना, विषय कषाय और भोग विलासकी वृद्धिके विचार करना, भोग-विलास और अनुभवानंदकेलिये व्यभिचारका विचार करना जिना-गमकी आज्ञाका अन्यथा विचार करना जिनागमके अर्थको मनमाने स्वार्थके लिये अनर्थ रूप अर्थ करनेका विचार करना इत्यादि सर्व मनके पाप कार्य हैं।

इसीप्रकार मन वचन कायकेद्वारा महान निंद्यकार्य करना दूस-रोंको कष्ट देना अपने स्वार्थके लिये कसाई खाना खोलना चिड़ियां घर खोलना कतलेआम करना, असमर्थ गो आदिको मारकर धर्म बतलाना दुःखी पीडित मनुष्योंके मारनेमें धर्म बतलाना देवीपर बध करना, युद्धकी भावना करना, चोरी करना घूंस लेना वकील बैरिस्टर बनकर न्यायालयमें झूठ बोलना।

मांस खाना दारु सेवन करना, शूद्रके हाथका भोजन पान करना सो समस्त पापके काम हैं।

मुमुक्षुजन हो! जरा विचार करो। कितने दुख कर्मोंके निमित्तसे सहन किये। नरकमें ताडन मारन शूली रोपण आदि दुखोंको पाया तिर्यंच योनिके दुःख प्रत्यक्ष हैं। एक समय भी ऐसा व्यतीत नहीं हुवा कि जिसमें तुझको दुःखोंके आनेकी

आशंका न रही हो। मनुष्य भव बार बार प्राप्त नहीं होता है कठिनतासे प्राप्त हुवा हैं। फिर भी पुण्ययोगसे जिनागमका उपदेश मिला सत्संगति व सद्धर्मका सहयोग मिला। सद्बुद्धि प्राप्त हुई। फिर भी विचार नहीं करता है। हा! पापोंमें ही धर्म मान कर पापोंके कार्यमें चटपट दौड़ता है। जवानीकी अंधतामें विचारहीन होता है। माता बहिन तकका बिचार नहीं करता है। सबके पवित्र शीलको नष्ट कर पापमार्गके बढ़ानेमें खुश होता है व्यभिचारमें धर्म बतलाता है यह तेरा कैसा विचार? यह तेरा कैसा ज्ञान? यह तेरी कैसी शिक्षा? जिस भारतके गौरवको प्रथम अनेक राजा महाराजा और पुण्य पुरुषोंने शीलधर्मकी रक्षा कर बढ़ाया उसको तु कुशिक्षाके प्रभावसे जवानीकी अंधतामें खोता है नष्ट करता है।

हे भव्य! अब भी चेत! व्यर्थ ही पापकर्मके विचारोंके द्वारा अपना और असंख्य भोले संसारीजीवोंका हित नष्ट मत कर सन्मार्गका विचार कर, जिनागमकी पवित्र आज्ञाका विचार कर, विषयोंकी पुतलीमें मग्न होकर व्यभिचार (विधवा विवाह) का उपदेश मत दे।

हे भव्यजीव! धनमदमें उन्मत्त होकर पापके कार्य करनेमें बिचार शक्तिको नष्ट न कर। तारा और चंद्रके समान चमकने वाली यह बिभूति क्षणमात्रमें नष्ट हो जायगी और देखते देखते विलीन हो जायगी। और तू होलीका नाथू बनकर अपनेको तथा जगतके भोले अज्ञानी प्राणियोंको कूपमें मत ढकेल।

यह धन और यह मनुष्य भव महान् पुण्यके योगसे प्राप्त हुआ है उसको तू अपनी धनकी उन्मत्ततामें विचारांध होकर व्यभिचार, हिंसा, झूठ, अन्याय, परस्त्री हरण सप्तव्यसनसेवन और अत्याचारोंके कार्योंको अनर्गल सेवन कर रहा है। रे भाई! खूब विचार और अच्छी तरह सोच, फिर ऐसा मौका नहीं मिलेगा और न ये संयोग मिलेंगे। इसलिये धन और बुद्धिको प्राप्त कर जिनपूजन, सत्पात्र दान, गुरु सेवा, जिनप्रतिमा निर्माण, जिन मंदिरोद्धार, रथोत्सव, धर्मात्मा भाइयोंकी सुश्रूषा, जिनागमकी सेवा आदि उत्तम कार्योंमें धनको लगाकर आत्म कल्याण कर। जगतके जीवोंको सन्मार्ग पर लगा। पवित्र जैनधर्मकी सेवा कर और जगतके जीवोंको जैनधर्मकी पवित्रता एवं सर्वोत्कृष्टताका बोध करा।

हे भव्यात्मन्! ज्ञानका प्राप्त करना महान् दुर्लभ है पुण्यके योगसे ज्ञानकी प्राप्ति होती है। एक सम्यग्ज्ञानके द्वारा अनंत भवके कर्म बंधन एक क्षणमात्रमें नष्ट हो जाते हैं। जो कर्मोंकी निर्जरा अनंत भवमें घोर तपश्चरणके द्वारा (बडे २ कष्ट सहन कर) करता है उन कर्मोंकी निर्जरा ज्ञानी त्रिगुप्तिसे लीला मात्रमें कर लेता है। हे भव्य तू बी० ए० हुआ, वकील हुआ, ज्ञानका प्रोफेसर बना, ज्ञानका बैरिष्टर हुआ, ज्ञानको प्राप्त कर अपनेको ज्ञानी समझने लगा। परन्तु ज्ञान प्राप्तकर चाहे जो चाहे जैसा खाया, मदिरा पान किया, रात्रिमें भोजन किया, होटलमें जूता पहनकर अभक्ष भक्षण किया, परस्त्री लंपटी बना, व्यभिचार और अनीतिका प्रचार करनेवाला

नेता बना, जगतके भोले जीवोंके धन और स्त्रीको हरण करनेवाला बना, आगमको मिथ्या ठहराने वाला बना, गुरुओंकी निन्दा करने वाला बना, भगवानकी मूर्तिका निरादर करने वाला बना जैनधर्ममें अवर्णवाद लगानेवाला बना, जैनधर्मकी पवित्रताको नष्ट करनेवाला बना, जैनधर्मके पवित्र भेषको धारणकर चांडालोंके साथ भोजन पान करनेवाला बना, विषयकषाय और मिथ्या मार्गकी पुष्टि करने वाला बना, अनंत संसारको बढानेवाला बना ऐसी दशामें धिक्कार है तेरे ज्ञानको! धिक्कार है तेरी समझको! धिक्कार है तेरी नीतिको! धिक्कार है तेरी शिक्षा को!

रे विचार शील! जरा तो विचार कर कि ज्ञानके द्वारा कैसे पवित्र गौर उत्तम कार्य होते हैं ज्ञानी पुरुषोंके कार्य लोकोत्तर होते हैं परंतु हे ज्ञानिन्! तू ज्ञान संपादन कर एवं ज्ञानका प्रोफेसर बन कर जिनागमके विरुद्ध मिथ्यात्वकी वृद्धि करता है। मिथ्यात्वकी वृद्धिमें धर्म मानता है, जिनागमके लोप करनेमें ही अपना सौभाग्य समझता है परन्तु तेरी यह भूल तुझको अवश्यही दुख देगी, तेरे दुष्ट कार्य तुझको अवश्यही नरकका दुख देंगे, तुझे गदहा सूअरकी पर्यायमें पटकेंगे कर्मोंका फल अवश्यही मिलेगा।

हे विचार शील! मिथ्यात्वके समान अन्य कोई पाप नहीं है मिथ्यात्वकी वृद्धि जिनागमकी पवित्रता नष्ट करनेसे, जिनागमकी आज्ञाको नहीं माननेसे, जिनागमको सत्य स्वरूप नहीं जाननेसे, जिनागमके अर्थमें विपर्यास करनेसे, देव गुरुकी मिथ्या निंदा करनेसे होती है। इसलिये चाहे जो हो परन्तु ऐसा परोपकार

करना मत सीखो जिससे तुम्हारा धर्म नष्ट हो, तुम्हारा आगम नष्ट हो, धर्म आयतनमें मिथ्या अवर्णवाद लगाकर धर्मद्रोही मत बनो। पापके प्रचारक मत बनो, धर्मके निंदक मत बनो, शील धर्मके लोप करनेवाले मत बनो, हिंसा झूठ चोरीके बढानेवाले मत बनो, किन्हीं भी धर्मात्मा भाइयोंका दिल दुखानेवाले मत बनो, ज्ञानके जालमें दुनियाको ठगने वाले मत बनो, ज्ञान तलवारसे भी अधिक क्रूर है तलवारसे एक ही मनुष्यका वध होता है परन्तु ज्ञानसे हजारों मनुष्योंका वध एक साथ होजाता है इसलिये हे ज्ञानवानो! ज्ञानका दुरुपयोग मत करो। ज्ञान प्राप्त कर ज्ञानसे अन्याय मत करो। ज्ञानसे चारित्र पालो, ज्ञानसे शुद्धताका विचार करो। ब्रह्मचर्यका सेवन करो।

यही ज्ञानी है जिसने अपनेको पापसे बचाया है। जिसके पाप कर्मोंका त्याग है। जिसने पिंडशुद्धि भोजनशुद्धिका पालनकर अन्याय और अत्याचारको स्वतः छोडा है तथा संसारसे अन्याय और अत्याचारसे अपनेको बचाया है।

ज्ञानी मनुष्य सम्यग्दर्शनकी वृद्धि करता है। सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि करता है, जिनागमकी पवित्रताका सर्वत्र प्रचार करता है, आत्माको पहिचानता है, सब जीवोंपर दया करता है, समस्त जीवोंका हित चाहता है, स्वार्थ या मोज मजाके लिये अन्यायका सेवन नहीं करता है, सदाचारको नष्ट नहीं करता है, पाप पुण्यको पहिचानता है कर्मबंधको समझता है।

परन्तु वर्तमान समयमें जिनागमकी श्रद्धा रखकर जिनागमके

ज्ञान द्वारा ज्ञानी बननेका अभाव हो गया और पश्चिम विद्या (नास्तिक विद्या) की कुशिक्षासे अपनेको ज्ञानी (नकली ज्ञानीका) बाघंबर पहरनेवाले मनुष्य ज्ञानका सदुपयोग नहीं करते हैं। वास्तविकमें उनका ज्ञान सच्चा नहीं होनेसे पुण्य पापके कार्योंमें विवेक जरा भी नहीं रहता है। वास्तविक दया नहीं पालते है। कायदा कानूनसे बचना बस यही अहिंसा धर्म समझते है। घोडा नहीं चले ना मार देनेमें हिंसा नहीं, पशु पक्षीमें जीव नहीं, कायर और असमर्थमे आत्मा नहीं है ऐसे मलिन विचारोंसे हिंसा और अहिंसाका स्वरूप जानते ही नहीं।

जाने कहांसे ? क्योंकि जिनागमके वचन उनके भोग विलास मोज मजामें अनीति बतलाते हैं। असदाचार बतलाते हैं। इसलिये वर्तमानके कुशिक्षित ज्ञानी जिनागमका विश्वास नहीं करते है। मिथ्यात्वसे बचो मिथ्यात्वको छोडो, मिथ्यात्वके त्यागमें धर्म मानो, हे भाई ! इसीमें सबका हित है।

कर्मबंधका क्षय

असंयत सम्यग्दृष्टी (चोथागुणस्थान) संयता संयत (पांचवां गुणस्थान) प्रमत्त गुण स्थान (छट्टागुणस्थान) अप्रमत्त (सातवागुणस्थान) में क्रमसे दश प्रकृतिका क्षय होता है।

अनंतानुबंधी क्रोध १ मान २ माया ३ लोभ ४ मिथ्यात्व ५ सम्यग्मिथ्यात्व ६ सम्यक्त्व प्रकृति ७ तिर्यगायु ८ देवायु ९ नरकायु १० इस प्रकार दश प्रकृतियोंका क्षय चौथा पांचवा छट्टा सातवें गुण स्थानमें होता है।

नवमें गुण स्थानके नौ विभाग माने हैं उनमें क्रमसे नीचे लिखी प्रकृतियोंका क्षय होता है।

प्रथमभागमें—स्त्यानगृद्धि १ निद्रा निद्रा २ प्रचला प्रचला ३ नरकगति ४ तिर्यग्गति ५ एकेंद्रिय जाति ६ द्वीन्द्रिय जाति ७ तीन इन्द्रिय जाति ८ चतुरिन्द्रिय जाति ९ नरकगति प्रायोग्यानु पुर्व्य १० तिर्यग्गति आनु पुर्व्य ११ आतप १२ उद्योत १३ स्थावर १४ सूक्ष्म १५ साधारण १६ इन सोलह प्रकृतियोंका क्षय नवमें गुण स्थानके प्रथम भागमें होता है।

द्वितीयभागमें—अप्रत्याख्यान क्रोध १ मान २ माया ३ लोभ ४ प्रत्याख्यान क्रोध ५ मान ६ माया ७ लोभ ८ इन आठ कर्म प्रकृतियोंका क्षय नवमें गुण स्थानके द्वितीयभागमें होता है।

तृतीयभागमें—नपुंसकवेदका क्षय होता है।

चतुर्थभागमें—स्त्रीवेदका क्षय होता है।

पञ्चमभागमें—हास्य १ रति २ अरति ३ शोक ४ भय ५ जुगुप्सा ६ इसप्रकार नवमें गुणस्थानके पांचमें भागमें क्षय होता है।

छठे भागमें—पुंवेदका क्षय होता है।

सप्तम भागमें–संज्वलन क्रोधका क्षय होता है

आठवे भागमें–संज्वलन मानका क्षय होता है।

नवमें भागमें—संज्वलन मायाका क्षय होता है

इस प्रकार नवमें गुण स्थानके नव विभागोंमें छत्तीस कर्म प्रकृतियोंका क्षय होता है।

दशवें गुणस्थानमें—संज्वलन लोभका क्षय होता है बारहवें

गुणस्थान (क्षीणकषाय) के द्विचरमस्थानमें निद्रा प्रचलाप्रचलाका क्षय होता है।

वारहवेंके अंत समयमें पांच ज्ञानावरण ५ चार दर्शनावरण ६ पांच अंतराय १४ इस प्रकार चौदह कम प्रकृतियोंका बारहवें गुण स्थानके अंत समयमें क्षय होता है।

इस प्रकार बारहवें गुण स्थानमें १६ कर्म प्रकृतिमोंका क्षय होता है।

इस प्रकार चोथे गुण स्थानसे प्रारंभ कर वारहवें गुणस्थान के अंत पर्यंत ६३ कम प्रकृतियोंका क्षय होता है।

तेरहवें गुणस्थानमें किसीभी कर्मप्रकृतिका क्षय नहीं होता है।

चौदहवे गुणस्थानके द्विचरमसमयमें—

पांच शरीर ५ पाच संघात ५ पांच बंध ५ तीन आंगोपांग ३ छह संहनन छह संस्थान ६ पांचवर्ण ५ दो गंध २ पांच रस ५ आठ स्पर्श ८ देवगति १ अपर्याप्ति १ प्रत्येक शरीर स्थिर १ शुभ १ अशुभ १ दुर्भग १ दुस्वर १ सुस्वर १ अनादेय अयशःकीर्ति १ असाता वेदनी १ अगुरुलघु १ परघात १ उपघात १ उश्वास १ नीच गोत्र १ निर्माण १ देवगत्यानु पूर्व १ दो विहायोगति २ अनादेय १

इस प्रकार ७२ कम प्रकृतियोंका क्षय चोदहवें गुण स्थानके द्विचरम समयमें होता है।

चौदहवें गुण स्थानके अंत समयमें—

आदेय १ मनुष्युगति २ मनुष्यगति आनुपूर्व्य ३ पंचेन्द्रिय जाति ४ मनुष्यायु ५ पर्याप्ति ६ त्रस ७ बादर ८ सुभग ९ यशः कीर्ति १० सातावेदनी ११ ऊंचगोत्र १२ तीर्थंकर १३

इस प्रकार १२ प्रकृतियोंका क्षय अयोग केवली करते हैं।

इसप्रकार चोथे गुणसे चौदहवें गुणस्थान पर्यंत गुणस्थानोंमें यथाक्रमसे १४८ कर्मप्रकृतियोंका क्षय होता है। इसप्रकार समस्त कर्मोंका समूल नाशकर आत्मा परमात्मा होता है। जिस प्रकार चावलके ऊपरका छिलका दूर करने पर वह पुनः अंकुरित होनेके लिये सर्वथा असमर्थ होजाता है ऐसे ही परमात्मा कर्मोंका समूल नाश कर देनेसे जन्ममरण रहित होजाते है। इस प्रकार प्रत्येक आत्मा अपने आत्मीय शुद्ध पुरुषार्थसे परमात्म पद प्राप्त कर सकता है यही जैन सिद्धान्तका उदार आशय है।

समस्त कर्मोंसे रहित, निरंजन, निर्विकार, निर्दोष, अमूर्तीक, निराकुल, निर्द्वंद्व, निर्भय, अशरीर, निर्मल, संसारसे परातीत, जन्म-मरण रहित, शोक रहित, जुगुप्सा रहित, खेद स्वेद रहित, रोग रहित क्षुधा रहित, पिपासा रहित, अनंतज्ञान अनंत दर्शन अनत सुख संपन्न, अनंत वीर्य सहित, आत्मा अविनाशी नित्य अष्ट गुण मंडित होजाता है। फिर वह परमात्मा संसारमें लौटकर कभी नहीं आ सकता है।

हे भव्यात्मन्! जो संसारके जन्म मरणके दुखोंसे सदाके लिए छूटना चाहते हो तो कर्मोंका नाश करनेका उद्योग करो। कर्मके सिवाय अन्य कोई भी जीवका दुश्मन नहीं है, दुख प्रदान करने वाला नहीं है, जन्म मरणका प्रदान करनेवाला नहीं है, पशु पक्षी नारक आदि पर्यायमें वर्णनातीत वेदनाका देनेवाला नहीं है।

जीवोंको जो कष्ट हो रहा है वह सर्व कर्म जनित है कर्म बड़े

बलवान हैं जगतके जीवोंको अपने स्वाधीनकर मनमाना दुख देते हैं।

जो स्वतंत्र होना चाहते हो, जो जन्म मरणके दुःखोंसे छूटना चाहते हो, जो सुख शान्तिको प्राप्त होना चाहते हो तो कर्मोंके नाश करनेका उद्योग करो।

कर्मोंका नाश निग्रंथ अवस्थासे प्राप्त होता है इसोलिये गुरुओं को तरण तारण दुख निवारण करनेवाला, जन्म मरणको उच्छेद करनेवाला, परम सुखको प्रदान करनेवाला माना हैं।

गुरु ही अकारण बंधु है, संसार समुद्रके जहाज हैं; विपदा को दूर करनेवाले हैं और दुखोंसे बचानेवाले हैं।

गुरु ही माता हैं पिता हैं बंधु है शरणभुत हैं रक्षकलोको-त्तम हैं परम मंगलके प्रदान करनेवाले मंगल मय हैं परमपुरुष हैं योगी हैं, योगीश्वर हैं, काम क्रोध मान माया लोभ ईर्षा द्वेष राग-मोह छल प्रपंचको जीतनेवाले हैं।

गुरु ही त्रिकाल ज्ञानी हैं भवोदधिसे तारने वाले हैं। सकल दर्शी हैं। सकल हितैषी हैं। सबके कल्याण करने वाले हैं, सबको सन्मार्ग बतलानेवाले हैं, निःस्वार्थ बुद्धिसे निराकांक्षित होकर सबके दुःखोंको मिटाने वाले हैं, सब जीवोंका परोपकार करनेवाले हैं, शत्रु और मित्र दोनोंको एक समान जाननेवाले परम वीतराग हैं, जिनको अपनी निंदामें क्रोध नहीं है, और अपनी कीर्तिमान प्रतिष्ठामें हर्ष नहीं हैं, इस प्रकार क्षमा सत्य शौच त्याग ब्रह्मचर्य आदि उत्कृष्ट गुणोंके धारण करने वाले हैं।

इसलिये मोक्षमार्गका विकाश गुरुसे ही होता है। वे ही धीर

और उग्र साहसी समस्त परीषहोंको सहनकर घोर तपश्चरण और अविचल ध्यान द्वारा कर्मोंके नाश करने वाले होते हैं।

हे भाई! जो तू अपने कर्मोंका नाश करना चाहता है तो गुरुकी सेवा करना सीख गुरुकी शरण प्राप्त हो। गुरुको परम पूज्यदेव समझ, इन्द्र नरेन्द्र धरणेन्द्र और जगतके जीवोंसे पूज्य माननीय वन्दनीय एवं अर्चनीय समझ।

बहुतसे समयसे गुरुओंका दर्शन नहीं था इसलिये मोक्षमार्ग भी व्यक्त नहीं था। अब त्रिलोकके जीवोंको पावन करनेवाले, जैन धर्मका उद्धार करनेवाले, संसारसे तारने वाले, मोक्ष मार्गको प्रदान करने वाले, अनंत सुखोंको देनेवाले, श्री १०८ श्रीदिगम्बरा-चार्य शांतिसागर महाराजका अवतार हुआ है उनका संघ जगतमें सुर्यके समान प्रकाश कर रहा है।

अब जागो! अब जागो! जागृत हो! जागृत हो!! संसारके बहुतसे प्राणियोंने मोह रूपी गाढ अंधकारको भेदकर गुरुके संघ द्वारा सम्यक्त रत्नको प्राप्त कर लिया है। अपनी खोईहुई निधि जो मिथ्यात्व अन्धकारमें विलीन थी वह गुरु सूर्यके प्रकाशमें स्वय-मेव प्रकाशित हो गई है। इसलिये सोनेका समय नहीं है।

गुरुसेवाके द्वारा मोक्ष मार्गको प्राप्त हो अपना आत्म कल्याण करो। और दुखोंका नाश कर कर्म बंधन रहित अजरामर पद मोक्ष सुखको प्राप्त हो।

शिवमस्तु   सद्बुद्धिरस्तु   कल्याणमस्तु